

## **Chapter दस**

### **सकाम कर्म की प्रकृति**

इस अध्याय में श्रीकृष्ण जैमिनि के अनुयायियों के दर्शन का खंडन करते हैं और उद्धव से बतलाते हैं कि किस तरह भौतिक शरीर के भीतर बद्ध आत्मा शुद्ध दिव्य ज्ञान उत्पन्न कर सकता है ।

वैष्णव, अर्थात् भगवान् विष्णु के शरणागत हुए व्यक्ति को पञ्चरात्र तथा अन्य प्रामाणिक शास्त्रों में दिये गये विधि-विधानों का पालन करना चाहिए। अपने ही प्राकृतिक गुणों तथा कर्म के अनुसार उसे मुक्त भाव से वर्णाश्रम की संहिता का पालन करना चाहिए। भौतिक इन्द्रियों, मन, तथा बुद्धि से प्राप्त किया जाने वाला तथाकथित ज्ञान इन्द्रियतृप्ति में आसक्त सोते व्यक्ति द्वारा देखे स्वप्न के समान व्यर्थ है। इसलिए इन्द्रियतृप्ति के लिए किये जाने वाले कर्म को त्याग कर कर्म को कर्तव्य-रूप में ग्रहण करना चाहिए। जब मनुष्य ने आत्मा के विषय में कुछ सच्चाई जान ली हो, तो उसे कर्तव्य के रूप में किये जाने वाले कर्म का परित्याग करके केवल प्रामाणिक गुरु की सेवा में लग जाना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् का प्रतिनिधि होता है। गुरु के सेवक को अपने गुरु के प्रति दृढ़ स्नेह होना चाहिए, उसे अपने गुरु से परम सत्य विषयक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहना चाहिए और उसे ईर्ष्या से तथा मूर्खवत् बोलने की प्रवृत्ति से मुक्त होना चाहिए। उसे व्यर्थ की बातें नहीं करनी चाहिए। आत्मा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से भिन्न होता है। जो आत्मा भौतिक शरीर में प्रवेश करता है, वह अपने पूर्व कर्मफलों के अनुसार शारीरिक कर्म स्वीकार करता है। अतः एकमात्र प्रामाणिक गुरु ही आत्मा विषयक शुद्ध ज्ञान का प्रदर्शन कर सकने में समर्थ होता है।

जैमिनि तथा अन्य नास्तिक दार्शनिकों के अनुयायी नियमित कर्म को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं। किन्तु कृष्ण यह बतलाते हुए इसका खण्डन करते हैं कि देहधारी आत्मा खण्डित भौतिक काल के सम्पर्क में आने से निरन्तर जन्म-मृत्यु की श्रृंखला को ग्रहण कर लेता है, जिससे वह बाद में मिलने वाले सुख-दुख को भोगने के लिए बाध्य हो जाता है। इसलिए जो व्यक्ति अपने कर्म के फलों के प्रति अनुरक्त होता है, उसे जीवन का कोई ठोस लक्ष्य प्राप्त होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। स्वर्ग तथा यज्ञ अनुष्ठानों से प्राप्त होने वाले अन्य लक्ष्यों को अल्पकाल तक ही अनुभव किया जा सकता है। इस भोग के समाप्त होने के बाद मनुष्य को शोक तथा कष्ट में लिपटने के लिए इसी मर्त्यलोक में लौटना होता है। भौतिकतावाद के मार्ग में अनवरत या स्वाभाविक सुख नहीं होता।

श्रीभगवानुवाच

मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः ।

वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत् ॥ १ ॥

## शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच— भगवान् ने कहा; मया—मेरे द्वारा; उदितेषु—कहा गया; अवहितः—अत्यन्त सावधानी से; स्व-धर्मेषु—भगवान् की भक्ति के कार्यों में; मत्-आश्रयः—मेरा शरणागत; वर्ण-आश्रम—वैदिक वर्णाश्रम प्रणाली; कुल—समाज के; आचारम्—आचरण; अकाम—भैतिक इच्छाओं से रहित; आत्मा—ऐसा पुरुष; समाचरेत्—अभ्यास करे।

भगवान् ने कहा : पूर्णतया मेरी शरण में आकर तथा मेरे द्वारा वर्णित भगवद्भक्ति में अपने मन को सावधानी से एकाग्र करके मनुष्य को निष्काम भाव से रहना चाहिए तथा वर्णाश्रम प्रणाली का अभ्यास करना चाहिए।

तात्पर्य : पिछले अध्यायों में भगवान् कृष्ण ने अवधूत ब्राह्मण की कहानी के माध्यम से सन्त-पुरुष के गुणों तथा चरित्र का वर्णन किया। अब वे ऐसे साधु-पद को प्राप्त करने के लिए व्यावहारिक साधनों का वर्णन कर रहे हैं। पञ्चरात्र तथा अन्य शास्त्रों में भगवान् ने भक्ति करने के आदेश दिये हैं। इसी तरह भगवद्गीता (४.१३) में भगवान् ने कहा है—चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः—मैंने ही वर्णाश्रम प्रणाली बनाई है। वर्णाश्रम प्रणाली में असंख्य विधि-विधान हैं और भक्त को चाहिए कि वह उनको सम्पन्न करे, जिनसे भक्ति-विधि का खण्डन न होता हो। वर्ण शब्द विभिन्न वर्गों के मनुष्यों का सूचक है, जिनमें कुछ तमोगुणी हैं, कुछ रजोगुणी और कुछ सतोगुणी। भगवद्भक्ति तो मुक्तावस्था में सम्पन्न होती है, अतएव रजो तथा तमोगुणी लोगों के लिए कुछ ऐसे आदेश हो सकते हैं, जो मुक्तावस्था वाले लोगों के सर्वथा प्रतिकूल हों। इसलिए प्रामाणिक गुरु जो भगवान् से अभिन्न है, के मार्गदर्शन में ही वर्णाश्रम के मूलभूत सिद्धान्तों को इस तरह सम्पन्न करना चाहिए, जो कृष्णभावनामृत को अग्रसर करने के अनुकूल हो।

अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनाम् ।

गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारम्भविपर्ययम् ॥ २ ॥

## शब्दार्थ

अन्वीक्षेत—देखे; विशुद्ध—शुद्ध किया हुआ; आत्मा—आत्मा; देहिनाम्—देहधारी जीवों का; विषय-आत्मनाम्—इन्द्रियतृप्ति के प्रति समर्पित लोगों का; गुणेषु—आनन्द देने वाली भौतिक वस्तुओं में; तत्त्व—सत्य रूप में; ध्यानेन—ध्यान द्वारा; सर्व—समस्त; आरम्भ—प्रयत्न; विपर्ययम्—अनिवार्य असफलता।

शुद्ध आत्मा को यह देखना चाहिए कि चूँकि इन्द्रियतृप्ति के प्रति समर्पित होने से बद्ध आत्माओं ने इन्द्रिय-सुख की वस्तुओं को धोखे से सत्य मान लिया है, इसलिए उनके सारे प्रयत्न असफल होकर रहेंगे।

**तात्पर्य :** इस श्लोक में भगवान् ने निष्काम होने की विधि बतलाई है। सारे इन्द्रिय-विषय, जिनमें रूप, स्वाद, गंध, स्पर्श या शब्द द्वारा अनुभूत इन्द्रिय-विषय सम्मिलित हैं, क्षणिक होते हैं। अभी हम अपने परिवार तथा राष्ट्र को देख रहे हैं किन्तु अन्ततः ये अदृश्य हो जायेंगे। यहाँ तक कि हमारा यह शरीर, जिससे हम उन्हें अनुभव करते हैं, वह भी अदृश्य हो जायेगा। इस तरह भौतिक भोग का अपरिहार्य परिणाम *विपर्यय* अर्थात् महान् कष्ट है। *विशुद्धात्मा* शब्द उनको बताता है, जिन्होंने भक्ति के नियमित कर्तव्यों को सम्पन्न करके अपने को शुद्ध बनाया है। वे स्पष्ट रूप में भौतिक जीवन के नैराश्य को देख सकते हैं और इस तरह वे *अकामात्मा* अर्थात् भौतिक इच्छा से रहित महान् आत्मा बन जाते हैं।

सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः ।

नानात्मकत्वाद्विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैः ॥ ३ ॥

#### शब्दार्थ

सुप्तस्य—सोने वाले के; विषय—इन्द्रियतृप्ति; आलोकः—देखना; ध्यायतः—ध्यान करने वाले का; वा—अथवा; मनः—रथः—मात्र मनगढंत; नाना—तमाम तरह के; आत्मकत्वात्—स्वभाव होने के कारण; विफलः—असली सिद्धि से विहीन; तथा—उसी तरह; भेद-आत्म—भिन्न रूप से बने हुए में; धीः—बुद्धि; गुणैः—भौतिक इन्द्रियों द्वारा।

सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न में इन्द्रियतृप्ति की अनेक वस्तुएँ देख सकता है, किन्तु ऐसी आनन्ददायक वस्तुएँ मनगढंत होने के कारण अन्ततः व्यर्थ होती हैं। इसी तरह, जो जीव अपनी आध्यात्मिक पहचान के प्रति सोया हुआ रहता है, वह भी अनेक इन्द्रिय-विषयों को देखता है, किन्तु क्षणिक तृप्ति देने वाली ये असंख्य वस्तुएँ भगवान् की माया द्वारा निर्मित होती हैं, तथा इनका स्थायी अस्तित्व नहीं होता। जो व्यक्ति इन्द्रियों से प्रेरित होकर इनका ध्यान करता है, वह अपनी बुद्धि को व्यर्थ के कार्य में लगाता है।

**तात्पर्य :** चूँकि भौतिक कर्म का फल क्षणिक होता है, अतएव इसका कोई अर्थ नहीं होता कि मनुष्य उसे प्राप्त करता है या नहीं—अन्तिम परिणाम एक-सा होता है। भौतिकतावादी कर्म कभी भी जीवन की सर्वोच्च सिद्धि—कृष्णभावनामृत प्रदान नहीं कर सकते। इन्द्रियों से प्रेरित होकर भौतिक बुद्धि इन्द्रियतृप्ति की प्रबल कामना करती है। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है ( *भेदात्म-धीः* ) ऐसी बुद्धि मनुष्य को उसके असली स्वार्थ से विलग करने वाली है। इस तरह भौतिक रूप से अनुकूल तथा प्रतिकूल कर्मों में लीन रहकर बुद्धि भौतिक उन्नयन की असंख्य कोटियों के पीछे लगने से विभक्त हो

जाती है। ऐसी विभक्त बुद्धि अशक्त होती है और वह परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण को नहीं समझ सकती। किन्तु भगवद्भक्त अपनी बुद्धि को एक ही विन्दु—भगवान् कृष्ण—पर स्थिर करते हैं। वे भगवान् के ही रूप, गुण, लीलाओं तथा भक्तों का ध्यान करते हैं, जिससे उनकी बुद्धि परब्रह्म से कभी विलग नहीं हो पाती। *भगवद्गीता* (२.४१) में कहा गया है—

*व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।*

*बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥*

“जो इस मार्ग पर चलते हैं, वे प्रयोजन में दृढ़ रहते हैं और उनका लक्ष्य भी एक होता है। हे कुरुनन्दन, जो दृढ़-प्रतिज्ञ नहीं हैं उनकी बुद्धि अनेक शाखाओं में विभक्त रहती है।”

यदि कोई कृष्णभावनाभावित नहीं है, तो वह अपनी नित्य स्थिति को समझे बिना व्यर्थ स्वप्न देखता है। भौतिक बुद्धि सुख प्राप्त करने के विचित्र साधन ढूँढ़ लेती है, इसलिए मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के एक व्यर्थ कार्यक्रम से दूसरे में कूदता रहता है और यह भूल जाता है कि सारी भौतिक वस्तुएँ नश्वर हैं और ये लुप्त हो जायेंगी। इस तरह उसकी बुद्धि भौतिक काम तथा लोभ से संदूषित हो जाती है और संदूषित बुद्धि कभी किसी को जीवन के असली लक्ष्य तक नहीं ले जा पाती। मनुष्य को शुद्ध बुद्धि वाले प्रामाणिक गुरु से उपदेश ग्रहण करना चाहिए, तभी वह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि—कृष्णभावनामृत—को प्राप्त होगा।

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत् ।

जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत्कर्मचोदनाम् ॥ ४ ॥

#### शब्दार्थ

निवृत्तम्—विधि-कर्तव्य; कर्म—ऐसा कार्य; सेवेत—करना चाहिए; प्रवृत्तम्—इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य; मत्-परः—मुझमें समर्पित; त्यजेत्—छोड़ दे; जिज्ञासायाम्—आध्यात्मिक सत्य की खोज में; सम्प्रवृत्तः—पूर्णतया संलग्न; न—नहीं; आद्रियेत्—स्वीकार करना चाहिए; कर्म—कोई भौतिक कार्य; चोदनाम्—आदेश।

जिसने अपने मन में मुझे अपने जीवन-लक्ष्य के रूप में बिठा लिया है, उसे इन्द्रियतृप्ति पर आधारित कर्म त्याग देने चाहिए और उन्नति के लिए विधि-विधानों द्वारा अनुशासित कर्म करना चाहिए। किन्तु जब कोई व्यक्ति आत्मा के चरम सत्य की खोज में पूरी तरह लगा हो, तो उसे सकाम कर्मों को नियंत्रित करने वाले शास्त्रीय आदेशों को भी नहीं मानना चाहिए।

**तात्पर्य :** श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की व्याख्या है कि *जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तः* शब्द योग-आरूढ व्यक्ति के द्योतक हैं। *भगवद्गीता* (६.३-४) में कहा गया है कि—

*आरूढक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।*

*योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥*

*यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।*

*सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥*

“अष्टांग योग के नवसाधक के लिए कर्म को साधन कहा गया है और योगसिद्ध पुरुष के लिए समस्त भौतिक कार्यकलापों का परित्याग ही साधन कहा जाता है। जब कोई पुरुष समस्त भौतिक इच्छाओं का त्याग करके न तो इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य करता है और न सकाम कर्मों में प्रवृत्त होता है, तो वह योगारूढ कहलाता है।” यहाँ पर यह उदाहरण दिया जा सकता है कि सामान्य व्यक्ति भौतिक इन्द्रिय-सुख के लिए स्त्रियों की संगति का आनन्द लेना चाहेगा। इसे प्रवृत्त कर्म कहते हैं। धार्मिक व्यक्ति भी स्त्री की संगति का आनन्द लेगा, किन्तु वर्णाश्रम पद्धति के विधि-विधानों के अन्तर्गत ही ऐसा करेगा। किन्तु जो व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति में पूरी तरह लीन रहता है, वह यौन-संग से प्राप्त होने वाली सारी इन्द्रियतृप्ति को त्याग देगा, चाहे वह वैध हों या अवैध। इसी तरह प्रवृत्त-कर्म की अवस्था में, जो कि सामान्य इन्द्रियतृप्ति है, मनुष्य जीभ को अच्छी लगने वाली हर वस्तु खायेगा। इसके विपरीत भौतिकतावादी भक्त कभी कभी अच्छे अच्छे पकवान तैयार करके अर्चाविग्रह को अर्पित करेगा, जिसका उद्देश्य अपनी जीभ तथा उदर की तृप्ति होता है, भगवान् की तृप्ति नहीं। किन्तु जो सम्प्रवृत्त होता है, अर्थात् आध्यात्मिक चेतना में पूरी तरह लगा रहता है, वह अपनी जीभ की तृप्ति में कभी रुचि नहीं लेता। वह भौतिकतावादी व्यक्तियों द्वारा पकाये भोजन से दूर रहता है। वह उतना ही भोजन करता है, जितने से वह कृष्ण की सेवा करने लायक बना रहे और जिस भोजन को अर्चाविग्रह को उनकी प्रसन्नता हेतु अर्पित किया जा चुका हो।

आध्यात्मिक साक्षात्कार की विधि बद्धजीव को भौतिकतावादी चेतना के निम्नतम बिन्दु से ऊपर उठाकर भगवान् की भक्ति में पूर्ण तल्लीनता तक ले जाती है। प्रारम्भ में उसे यह शिक्षा दी जाती है कि वह अपने कर्मफल को सर्वप्रथम भगवान् को अर्पित करके अपनी भोग-लालसाओं को उनसे जोड़ दे।

किन्तु प्रगत अवस्था में सकाम कर्म करने की प्रेरणा ( *कर्म-चोदनम्* ) समाप्त हो जाती है और मनुष्य बिना किसी स्वार्थमय उद्देश्य के भगवान् की प्रेमाभक्ति में लग जाता है। उदाहरणार्थ, कृष्णभावनामृत का उपदेश देने वाले विरक्त संन्यासी को अथवा विरक्त गृहस्थ को भी गृहस्थ-जीवन में इन्द्रियतृप्ति के लिए आवश्यक समस्त आदेशों को पूरा नहीं करना होता। अन्ततः हर मनुष्य को कृष्णभावनामृत का दिव्य कर्तव्य स्वीकार करना चाहिए। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कर्म करके तब कृष्ण को उनका फल अर्पित करने की बजाय मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की अपनी घनिष्ठ इच्छाओं के अनुसार, उन्हें प्रसन्न करने में पूरी तरह लग जाय।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार भौतिक जगत को भोगने का कोई भी प्रयास, चाहे धार्मिक दृष्टि से हो या अधार्मिक दृष्टि से हो, अन्ततः विरोधों से पूर्ण होता है। मनुष्य को सच्चा निष्काम पद, अर्थात् शुद्ध भगवत्प्रेम का पद प्राप्त करना चाहिए और जीवन की सारी समस्याओं को हल करना चाहिए।

यमानभीक्षणं सेवेत नियमान्मत्परः क्वचित् ।

मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ॥ ५ ॥

#### शब्दार्थ

यमान्—मुख्य-मुख्य विधि-विधान, यथा हिंसा न करना; अभीक्षणम्—सदैव; सेवेत—पालन करना चाहिए; नियमान्—गौण नियम, यथा शरीर स्वच्छ रखना; मत्-परः—मेरा भक्त; क्वचित्—यथासम्भव; मत्-अभिज्ञम्—मेरे स्वरूप को जानने वाला; गुरुम्—गुरु को; शान्तम्—शान्त; उपासीत—सेवा करनी चाहिए; मत्-आत्मकम्—जो मुझसे भिन्न नहीं है।

जिसने मुझे अपने जीवन का परम लक्ष्य मान लिया है, उसे चाहिए कि पापकर्मों का निषेध करने वाले शास्त्रीय आदेशों का कठोरता से पालन करे और जहाँ तक हो सके गौण नियमों को यथा स्वच्छता की संस्तुति करने वाले आदेशों को सम्पन्न करे। किन्तु अन्ततः उसे प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए, जो मेरे साकार रूप के ज्ञान से पूर्ण होता है, जो शान्त होता है और जो आध्यात्मिक उत्थान के कारण मुझसे भिन्न नहीं होता।

तात्पर्य : *यमान्* शब्द मनुष्य की शुद्धता को बनाये रखने के लिए आवश्यक प्रमुख विधि-विधानों को बतलाता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में समस्त प्रामाणिक सदस्यों को मांस, मछली तथा अंडा खाना छोड़ देना चाहिए और उन्हें नशा, जुआ खेलने तथा अवैध यौन से भी बचना चाहिए। *अभिज्ञम्* शब्द यह सूचित करता है कि मनुष्य कठिन परिस्थितियों में भी ऐसे निषिद्ध कार्यों को किसी समय

सम्पन्न नहीं कर सकता। *नियमान्* शब्द कम अनिवार्य आदेशों का द्योतक है—यथा दिन में तीन बार स्नान करना। कतिपय कठिन परिस्थितियों में मनुष्य प्रतिदिन तीन बार स्नान नहीं कर सकता फिर भी वह अपना आध्यात्मिक पद बनाये रखता है। किन्तु यदि कोई कठिन परिस्थितियों में भी पापपूर्ण निषिद्ध कार्यों में संलग्न होता है, तो उसका आध्यात्मिक पतन अवश्यम्भावी है। अन्त में, जैसाकि *उपदेशामृत* में कहा गया है, मात्र विधि-विधानों में चिपके रहने से आध्यात्मिक सिद्धि नहीं मिल सकती। उसे प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए, जो *मद्-अभिज्ञम्* होता है अर्थात् ईश्वर के साकार रूप के ज्ञान से युक्त होता है। *मत्* (मुझको) शब्द प्रामाणिक गुरु को परम सत्य की निर्विशेष धारणा से युक्त होने की सम्भावना का निषेध करता है। यही नहीं, गुरु को अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण होना चाहिए, इसलिए वह *शान्त* कहलाता है। भगवान् के उद्देश्य के प्रति पूर्ण शरणागत होने से ऐसा गुरु *मद्-आत्मकम्* होता है अर्थात् भगवान् से अभिन्न होता है।

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः ।

असत्त्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥ ६ ॥

#### शब्दार्थ

अमानी—मिथ्या अहंकार से रहित; अमत्सरः—अपने को कर्ता न मानते हुए; दक्षः—आलस्य रहित; निर्ममः—पत्नी, बच्चों, घर, समाज के ऊपर स्वामित्व के भाव के बिना.; दृढ-सौहृदः—अपने पूज्य अर्चाविग्रह स्वरूप गुरु से मैत्री के भाव में स्थिर हुआ; असत्वरः—भौतिक काम के कारण मोहग्रस्त हुए बिना; अर्थ-जिज्ञासुः—परम सत्य का ज्ञान चाहने वाला; अनसूयुः—ईर्ष्या से मुक्त; अमोघ-वाक्—व्यर्थ की बातचीत से सर्वथा मुक्त।

गुरु के सेवक अथवा शिष्य को झूठी प्रतिष्ठा से मुक्त होना चाहिए और अपने को कभी भी कर्ता नहीं मानना चाहिए। उसे सदैव सक्रिय रहना चाहिए और कभी भी आलसी नहीं होना चाहिए। उसे पत्नी, बच्चे, घर तथा समाज सहित समस्त इन्द्रिय-विषयों के ऊपर स्वामित्व के भाव को त्याग देना चाहिए। उसे अपने गुरु के प्रति प्रेमपूर्ण मैत्री की भावना से युक्त होना चाहिए और उसे कभी भी न तो पथभ्रष्ट होना चाहिए, न मोहग्रस्त। सेवक या शिष्य में सदैव आध्यात्मिक ज्ञान में आगे बढ़ने की इच्छा होनी चाहिए। उसे किसी से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए और व्यर्थ की बातचीत से बचना चाहिए।

तात्पर्य : कोई भी व्यक्ति अपने को तथाकथित पत्नी, परिवार, घर, समाज इत्यादि का स्थायी स्वामी नहीं कह सकता। ऐसे भौतिक सम्बन्ध समुद्र की सतह पर उठने वाले बुलबुलों के समान प्रकट



तथा अप्रकट होते रहते हैं। कोई भी व्यक्ति अपने को घर, समाज तथा परिवार को बनाने वाले भौतिक तत्त्वों का स्रष्टा नहीं कह सकता। यदि यह तथ्य होता कि माता-पिता ही अपने बच्चों के शरीर के निर्माता हैं, तो वे अपने माता-पिता से पहले कभी न मरते। माता-पिता बच्चों के लिए दूसरा शरीर गढ़ देते। इसी तरह माता-पिता स्वयं भी न मरते, क्योंकि वे अपने लिए पुराने शरीरों के स्थान पर नये शरीर गढ़ लेते। वस्तुतः हर एक के शरीरों को तथा भौतिक समाजों को निर्मित करने वाले सारे तत्त्वों को ईश्वर ही बनाता है। इसलिए इसके पूर्व कि मृत्यु इन वस्तुओं को हमारे अधिकार से खींच ले, हमें इनका उपयोग स्वेच्छा से उस गुरु की प्रेमाभक्ति में करना चाहिए, जो भगवान् कृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है। तब ऐसी वस्तुएँ शोक का कारण न बन कर सुख के कारण बन सकेंगी।

जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु ।

उदासीनः समं पश्यन्सर्वेष्वर्थमिवात्मनः ॥ ७ ॥

#### शब्दार्थ

जाया—पत्नी; अपत्य—सन्तान; गृह—घर; क्षेत्र—भूमि; स्वजन—सम्बन्धी तथा मित्र; द्रविण—बैंक खाता; आदिषु—इत्यादि में; उदासीनः—अन्यमनस्क रहकर; समम्—समान रूप से; पश्यन्—देखते हुए; सर्वेषु—समस्त; अर्थम्—उद्देश्य; इव—सदृश; आत्मनः—अपना।

मनुष्य को सभी परिस्थितियों में अपने जीवन के असली स्वार्थ ( उद्देश्य ) को देखना चाहिए और इसीलिए पत्नी, सन्तान, घर, भूमि, रिश्तेदारों, मित्र, सम्पत्ति इत्यादि से विरक्त रहना चाहिए।

तात्पर्य : भगवद्भक्त की मान्यता होती है कि उसकी पत्नी, बच्चे, घर, भूमि, मित्र तथा धन भगवान् की सेवा में लगाये जाने के निमित्त हैं। अतएव वह अपने परिवार तथा मित्रों की इन्द्रियतृप्ति के लिए उन्मत्तता से प्रबन्ध नहीं करता। वह न तो अपनी पत्नी तथा अपने बच्चों का स्वामी होने की झूठी प्रतिष्ठा भोगने का इच्छुक रहता है, न ही अपने मित्रों तथा समाज से प्रतिष्ठा पाने के लिए चिन्तित रहता है। इस तरह वह किसी से द्वेष नहीं रखता और आत्म-साक्षात्कार के मामले में आलस्य नहीं करता। वह स्वामित्व के झूठे ज्ञान से मुक्त रहता है और भगवान् का ज्ञान विकसित करने के लिए सदैव उत्सुक रहता है। वह झूठे अहंकार से मुक्त रहता है और व्यर्थ की भौतिक बातों से अपने को दूर रखता है। इस तरह वह स्थिर होता है, सनकी नहीं होता और अपने गुरु के चरणकमलों पर प्रेमपूर्ण मित्रता के भाव से दृढ़ रहता है।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कोई व्यक्ति झूठे स्वामित्व से अपने को किस तरह मुक्त रख सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है। सामान्य व्यक्ति अधिकाधिक धन एकत्र करने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहता है और वह स्टॉक, बाँड, प्रतिभूतियों, बैंक खातों, जायदाद, सोना इत्यादि के रूप में अपनी सम्पत्ति संचय करता है। जब तक ये विभिन्न संपत्तियाँ उसकी आर्थिक सम्पन्नता में योगदान करती हैं, तब तक वह इन सबों को समान दृष्टि से देखता है और उन्हें अपनी मानता है। किन्तु यदि सरकार कर के रूप में इनमें से कुछ संपत्तियों को ले लेती है या दुर्भाग्यवश व्यापार में उनकी हानि हो जाती है, तो उसे इनका स्वामित्व छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इसी तरह हर व्यक्ति को समझदार होना चाहिए कि असंख्य वस्तुओं पर उसका स्वामित्व स्थायी नहीं है, अतएव उसे इन वस्तुओं के प्रति विरक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। यदि वह भगवान् तथा उनके शुद्ध-भक्त गुरु के साथ सख्य भाव उत्पन्न नहीं करता, तो निश्चित रूप से वह समाज, मैत्री तथा प्रेम के जंजाल में फँसा रहेगा। तब वह भौतिक पद में ही बँधा रहेगा और स्थायी सुख की कोई आशा नहीं कर सकता।

**विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद्देहादात्मेक्षिता स्वदृक् ।**

**यथाग्निर्दारुणो दाह्यादाहकोऽन्यः प्रकाशकः ॥ ८ ॥**

#### शब्दार्थ

विलक्षणः—विभिन्न गुणों वाला; स्थूल—स्थूल; सूक्ष्मात्—तथा सूक्ष्म; देहात्—शरीर से; आत्मा—आत्मा; ईक्षिता—द्रष्टा; स्व-दृक्—स्वतः प्रकाशित; यथा—जिस तरह; अग्निः—अग्नि; दारुणः—लकड़ी से; दाह्यात्—जलाई जाने वाली; दाहकः—जलने वाली; अन्यः—दूसरी; प्रकाशकः—प्रकाश देने वाली।

जिस तरह जलने और प्रकाश करने वाली अग्नि उस लकड़ी ( ईंधन ) से भिन्न होती है, जो प्रकाश देने के लिए जलाई जाती है, उसी तरह शरीर के भीतर का द्रष्टा, स्वतः प्रकाशित आत्मा, उस भौतिक शरीर से भिन्न होता है, जिसे चेतना से प्रकाशित करना पड़ता है। इस तरह आत्मा तथा शरीर में भिन्न भिन्न गुण होते हैं और वे पृथक् पृथक् हैं।

**तात्पर्य :** यहाँ पर विश्लेषण विधि से यह प्रदर्शित किया गया है कि मनुष्य को झूठे ही अहंकार की पहचान शरीर से नहीं करनी चाहिए। ऐसी गलत पहचान मिथ्या अहंकार या भौतिक मोह कहलाती है। इस प्रसंग में यह प्रश्न किया जा सकता है—चूँकि यह भलीभाँति ज्ञात है कि भगवान् बद्ध आत्मा को प्रकाशित करते हैं, तो फिर इस श्लोक में स्व-दृक् शब्द का प्रयोग क्यों हुआ है? श्रील विश्वनाथ

चक्रवर्ती ठाकुर ने व्याख्या की है कि यद्यपि भगवान् ही जीव को चेतना प्रदान करते हैं, किन्तु भगवान् की शक्ति से युक्त होने के कारण स्वयं जीव में अपनी शुद्ध चेतना को पुनर्जागृत करने और बढ़ाने की क्षमता होती है। इस तरह गौण रूप में उसे स्वतः प्रकाशित माना जा सकता है। यहाँ सोने या चाँदी के बने गुम्बद का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है, जो सूर्य की प्रकाशमय किरणों को परावर्तित कर देता है। यद्यपि प्रकाश सूर्य से आता है, किन्तु सोना तथा चाँदी में निहित स्वाभाविक गुणों को चमकीले परावर्तन का कारण माना जा सकता है, क्योंकि अन्य वस्तुओं में सूर्य के प्रकाश को परावर्तित करने के उपयुक्त गुण नहीं पाये जाते। इसी तरह आत्मा को स्व-दृक् माना जा सकता है, क्योंकि उसमें वह गुण पाया जाता है, जिससे वह भगवान् की शक्ति को चमकीले रूप में परावर्तित कर सकता है, ठीक उसी तरह जैसे सोने अथवा चाँदी का गुम्बद अपने परावर्तन गुणों के कारण चमकता है।

इस श्लोक में शरीर तथा आत्मा के विभिन्न गुणों को बतलाने वाला अच्छा उदाहरण दिया गया है। जलने और प्रकाश करने वाली अग्नि उस काठ से भिन्न होती है, जिसे प्रकाश पाने के लिए जलाया जाता है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि काठ के भीतर अग्नि अप्रकट रूप में उपस्थित रहती है। इसी प्रकार अज्ञान के बद्ध जीवन में आत्मा शरीर में उपस्थित रहता है, यद्यपि वह अप्रकट रहता है। जीव की प्रकाशित अवस्था की तुलना काठ के भीतर से अग्नि को जगाने से की जा सकती है। जिस तरह अग्नि काठ को जलाकर तुरन्त राख कर देती है, उसी तरह प्रकाशित किये जाने पर आत्मा अज्ञान के अंधकार को जलाकर राख कर देता है। चूँकि हम शरीर के प्रति सचेत हैं, इसलिए हम कह सकते हैं कि शरीर चेतना द्वारा प्रकाशित है और यह चेतना आत्मा की शक्ति या उसका लक्षण है। शरीर तथा आत्मा को एक मानना वैसी ही मूर्खता है, जिस तरह अग्नि तथा काठ को एक मान लेना। अग्नि तथा काठ अथवा आत्मा तथा शरीर के मध्य जो घनिष्ठ आकस्मिक सम्बन्ध है, उससे इस बात में कोई अन्तर नहीं आता कि अग्नि काठ से भिन्न है अथवा आत्मा सदैव ही शरीर से भिन्न है।

निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान्गुणान् ।

अन्तः प्रविष्ट आधत्त एवं देहगुणान्परः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

निरोध—प्रसृति; उत्पत्ति—प्राकट्य; अणु—लघु; बृहत्—विशाल; नानात्वम्—लक्षणों का प्रकार; तत्-कृतान्—उसके द्वारा उत्पन्न; गुणान्—गुण; अन्तः—भीतर; प्रविष्टः—प्रवेश करके; आधत्ते—स्वीकार करता है; एवम्—इस प्रकार; देह—भौतिक शरीर के; गुणान्—गुणों को; परः—दिव्य जीव ( आत्मा )।

ईंधन की दशा के अनुसार अग्नि जिस तरह सुप्त, प्रकट, क्षीण, तेज जैसे विविध रूपों में प्रकट हो सकती है, उसी तरह आत्मा भौतिक शरीर में प्रवेश करता है और शरीर के विशिष्ट लक्षणों को स्वीकार करता है।

तात्पर्य : यद्यपि किसी वस्तु विशेष में अग्नि प्रकट और लुप्त हो सकती है, किन्तु अग्नि तत्त्व सदैव विद्यमान रहता है। इसी प्रकार नित्य आत्मा उपयुक्त शरीर के भीतर प्रकट होता है और फिर उस शरीर से लुप्त हो जाता है, परन्तु आत्मा का अस्तित्व सदैव बना रहता है। जिस प्रकार अग्नि अपने ईंधन से भिन्न है, उसी प्रकार आत्मा शरीर से भिन्न है। दियासलाई की काड़ी से लघु अग्नि प्रकट होती है किन्तु गैसोलीन की टंकी के विस्फोट से आकाश तक लपटें फैल जाती हैं। तो भी अग्नि एक है। इसी तरह एक आत्मा ब्रह्मा के शरीर में प्रकट हो सकता है और दूसरा चींटी के शरीर में, किन्तु गुण की दृष्टि से आत्मा प्रत्येक शरीर में एक-सा है। अज्ञान के कारण हम आत्मा पर शरीर के लक्षणों को आरोपित करते हैं और इस तरह हम यह कहते हैं कि यह व्यक्ति अमरीकी, रूसी, चीनी, अफ्रीकी या मेक्सिकोई है या यह कि वह व्यक्ति जवान है या बूढ़ा है। यद्यपि ऐसी उपाधियाँ शरीर पर लागू होती हैं, किन्तु वे आत्मा पर लागू नहीं होतीं, जिसे यहाँ पर परः या दिव्य जीव कहा गया है। जब तक मोहग्रस्त आत्मा भगवान् से शत्रु-भाव रखता है, तब तक स्थूल तथा सूक्ष्म देहों की उपाधियाँ उसे प्रच्छन्न किये रहेंगी और उसे अंधकार में रखेंगी। यदि मनुष्य बौद्धिक रूप से अपनी पहचान जीवन के विविध भौतिकतावादी विचारों से करता है, तो वह सूक्ष्म मन द्वारा प्रच्छन्न हो जाता है। अन्ततोगत्वा हर वस्तु जिसका अस्तित्व है, वह परब्रह्म कृष्ण का अंश होती है। जब जीव इसे समझ लेता है, तो वह निरुपाधि बन जाता है। यही उसकी स्वाभाविक स्थिति है।

योऽसौ गुणैर्विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि ।

संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसो विद्या च्छिदात्मनः ॥ १० ॥

#### शब्दार्थ

यः—जो; असौ—वह ( सूक्ष्म शरीर ); गुणैः—भौतिक गुणों द्वारा; विरचितः—निर्मित; देहः—शरीर; अयम्—यह ( स्थूल शरीर ); पुरुषस्य—भगवान् का; हि—निश्चय ही; संसारः—जगत; तत्-निबन्धः—उससे बँधा हुआ; अयम्—यह; पुंसः—जीव का; विद्या—ज्ञान; छित्—छिन्न करने वाला; आत्मनः—आत्मा का।

सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों की उत्पत्ति प्रकृति के गुणों से होती है, जो भगवान् की शक्ति से विस्तार पाते हैं। जब जीव झूठे ही स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के गुणों को अपने ही असली स्वभाव के रूप में मान लेता है, तो संसार का जन्म होता है। किन्तु यह मोहमयी अवस्था असली ज्ञान द्वारा नष्ट की जा सकती है।

**तात्पर्य :** जहाँ तक ईंधन तथा अग्नि की उपमा शरीर तथा आत्मा से दिये जाने की बात है, यह तर्क किया जा सकता है कि कुछ हद तक अग्नि ईंधन पर निर्भर करती है और वह उसके बिना नहीं रह सकती। चूँकि हमें अग्नि के अस्तित्व का अनुभव ईंधन से पृथक् रूप में नहीं है, तो भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह किस तरह सम्भव है कि जीव शरीर से पृथक् रहे, उससे प्रच्छन्न होकर अन्त में पृथक् हो जाय। जीव के स्वभाव को भगवान् की *विद्या* द्वारा ही समझा जा सकता है। *विद्या* अर्थात् असली ज्ञान से भौतिक जगत को खण्ड खण्ड किया जा सकता है और इसी जीवन में आध्यात्मिक सत्य का अनुभव हो सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार, हमारा अस्तित्व कृत्रिम रूप से आरोपित है। भगवान् की अचिन्त्य अविद्या द्वारा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के गुण जीव पर मनोवैज्ञानिक रूप से लादे जाते हैं और शरीर के साथ गलत पहचान करने से जीव अनेक मोहयुक्त कर्म करने लगता है। जैसाकि पिछले अध्याय में बतलाया गया है, वर्तमान शरीर वृक्ष तुल्य है, जो अगले शरीर के कर्म-बीज उत्पन्न करता है। किन्तु इस अज्ञान के चक्र को दिव्य ज्ञान के द्वारा खण्ड खण्ड किया जा सकता है, जैसाकि भगवान् ने बतलाया है।

दुर्भाग्य से बद्धजीव, भगवान् से शत्रुतावश, उनके द्वारा बतलाये पूर्ण ज्ञान को ग्रहण नहीं करते। बजाय इसके वे स्थूल तथा सूक्ष्म मोह में पड़े रहते हैं। किन्तु यदि जीव भगवान् के ज्ञान को मान ले, तो उसकी सारी स्थिति सुधर सकती है और वह भगवान् के साथ सीधे संपर्क द्वारा पूर्ण ज्ञान का सच्चिदानन्द स्वरूप जीवन प्राप्त कर सकता है।

तस्माज्जिज्ञासयात्मानमात्मस्थं केवलं परम् ।  
सङ्गम्य निरसेदेतद्वस्तुबुद्धि यथाक्रमम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; जिज्ञासया—ज्ञान के अनुशीलन द्वारा; आत्मानम्—भगवान् को; आत्म—अपने भीतर; स्थम्—स्थित;  
केवलम्—शुद्ध; परम्—दिव्य तथा सर्वश्रेष्ठ; सङ्गम्य—विज्ञान द्वारा पास जाकर; निरसेत्—त्याग दे; एतत्—यह; वस्तु—  
भौतिक वस्तुओं के भीतर; बुद्धिम्—वास्तविकता की धारणा; यथा-क्रमम्—धीरे धीरे, पदशः ।

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि ज्ञान के अनुशीलन द्वारा वह अपने भीतर स्थित भगवान् के निकट पहुँचे। भगवान् के शुद्ध दिव्य अस्तित्व को समझ लेने पर मनुष्य को चाहिए कि वह धीरे धीरे भौतिक जगत को स्वतंत्र सत्ता मानने के झूठे विचार को त्याग दे।

तात्पर्य : यथाक्रमम् शब्द का अर्थ है कि मनुष्य अपने को स्थूल भौतिक शरीर से भिन्न अनुभव करते हुए धीरे धीरे भौतिक मानसिक कार्यों से विरक्त कर ले। इस श्लोक में एतद् वस्तु-बुद्धिम् का अर्थ है भौतिक जगत के पृथक् अस्तित्व को देखना, न कि हर वस्तु को वस्तुतः परब्रह्म से उद्भूत देखना।

जब मनुष्य अपने को शाश्वत आध्यात्मिक रूप में पहचान लेता है, तो उसे ज्ञान का असली फल प्राप्त होता है। भगवान् तो शाश्वत रूप से अपने नित्य रूप में प्रकट होते हैं और इसी तरह जीव भी भगवान् के प्रेमी सेवक के रूप में अपने नित्य रूप में प्रकट होता है। जब हम यह झूठी कल्पना कर लेते हैं कि नश्वर, मोहमय भौतिक पदार्थ सत्य है, तो हमारे नित्य आध्यात्मिक रूप का ज्ञान अज्ञान से आच्छादित रहता है। किन्तु यदि मनुष्य हर वस्तु के भीतर भगवान् की परम उपस्थिति का ध्यान करता है, तो वह अपने सामान्य आनन्दमय आध्यात्मिक जीवन में लौट सकता है। जैसाकि इस श्लोक में जिज्ञासया शब्द से सूचित होता है, हर मनुष्य को परम सत्य को समझने का गम्भीर प्रयास करना चाहिए।

आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः ।

तत्सन्धानं प्रवचनं विद्यासन्धिः सुखावहः ॥ १२ ॥

#### शब्दार्थ

आचार्यः—गुरु; अरणिः—यज्ञ अग्नि जलाने में प्रयुक्त पवित्र काष्ठ; आद्यः—नीचे रखा; स्यात्—माना जाता है; अन्ते-वासी—शिष्य; उत्तर—सब से ऊपर; अरणिः—जलाने वाला काष्ठ; तत्-सन्धानम्—ऊपरी तथा निचले काष्ठ को जोड़ने वाली बीच की लकड़ी, ( मंथन काष्ठ ); प्रवचनम्—आदेश; विद्या—दिव्य ज्ञान; सन्धिः—घर्षण से उत्पन्न अग्नि, जो पूरे काष्ठ में फैल जाती है; सुख—सुख; आवहः—लाकर।

गुरु की उपमा यज्ञ-अग्नि के निचले काष्ठ से, शिष्य की उपमा ऊपरी काष्ठ से तथा गुरु द्वारा दिये जाने वाले प्रवचनों की उपमा इन दोनों काष्ठों के बीच में रखी तीसरी लकड़ी ( मंथन काष्ठ ) से दी जा सकती है। गुरु द्वारा शिष्य को दिया गया दिव्य ज्ञान इनके संसर्ग से उत्पन्न होने वाली

अग्नि के समान है, जो अज्ञान को जलाकर भस्म कर डालता है और गुरु तथा शिष्य दोनों को परम सुख प्रदान करता है।

**तात्पर्य :** जब अज्ञान का अंधकार जलाकर राख कर दिया जाता है, तो अज्ञान का घातक जीवन भी समूल नष्ट हो जाता है और तब मनुष्य पूरे ज्ञान से अपने सही स्वार्थ के लिए कर्म कर सकता है। इस श्लोक में *आद्यः* का अर्थ है “आदि” और यह गुरु का सूचक है, जिसकी उपमा निचले काष्ठ से दी गई है। दिव्य ज्ञान अग्नि के समान गुरु से शिष्य तक फैलता है। जिस तरह दो काष्ठ-खण्डों के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है, उसी तरह कृष्ण के प्रतिनिधि गुरु तथा निष्ठावान शिष्य के मध्य प्रामाणिक संसर्ग से ज्ञान की अग्नि उत्पन्न होती है। जब शिष्य गुरु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, तो वह अपने आदि आध्यात्मिक रूप का पूर्ण ज्ञान स्वयमेव प्राप्त कर लेता है।

वैशारदी सातिविशुद्धबुद्धि-

धुनोति मायां गुणसम्प्रसूताम् ।

गुनांश्च सन्दह्य यदात्ममेतत्

स्वयं च शांयत्यसमिद्यथाग्निः ॥ १३ ॥

#### शब्दार्थ

वैशारदी—दक्ष ( विशारद ) से प्राप्त; सा—यह; अति-विशुद्ध—नितान्त शुद्ध; बुद्धिः—बुद्धि या ज्ञान; धुनोति—विकर्षित करता है; मायाम्—माया या मोह को; गुण—प्रकृति के गुणों से; सम्प्रसूताम्—उत्पन्न; गुणान्—प्रकृति के गुणों को; च—भी; सन्दह्य—भस्म करके; यत्—जिन गुणों से; आत्मम्—निर्मित; एतत्—यह ( जगत ); स्वयम्—अपने आप; च—भी; शांयति—शान्त कर दिया जाता है; असमित्—ईंधन के बिना; यथा—जिस तरह; अग्निः—अग्नि।

दक्ष गुरु से विनयपूर्वक श्रवण करने से दक्ष शिष्य में शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है, जो प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न भौतिक मोह के प्रहार को पीछे भगा देता है। अन्त में यह शुद्ध ज्ञान स्वयं ही समाप्त हो जाता है, जिस तरह ईंधन का कोष जल जाने पर अग्नि ठंडी पड़ जाती है।

**तात्पर्य :** वैशारदी शब्द का अर्थ है *विशारद* (दक्ष) से व्युत्पन्न। पूर्ण ज्ञान तो दक्ष गुरु से मिलता है और जब ऐसा ज्ञान दक्ष शिष्य द्वारा सुना जाता है, तो यह भौतिक मोह की तरंगों को मोड़ देता है। चूँकि भगवान् की माया-शक्ति भौतिक जगत के भीतर शाश्वत क्रियाशील रहती है, अतएव मोह को विनष्ट करने की सम्भावना नहीं रहती। फिर भी मनुष्य अपने हृदय के भीतर के मोह को तो नष्ट कर ही सकता है। इसमें सफल होने के लिए शिष्य को चाहिए कि वह दक्ष गुरु को प्रसन्न करने में पटु हो। ज्यों ज्यों मनुष्य कृष्णभावनामृत की पूर्णावस्था के निकट पहुँचता जाता है और सर्वत्र भगवान् की

उपस्थिति का अनुभव करने लगता है, त्यों त्यों उसका ध्यान दिव्य पद की ओर खिसक जाता है। उस समय शुद्ध ज्ञान अर्थात् मोह की सतत् सैद्धान्तिक जागरूकता स्वयं ही कम हो जाता है, जिस तरह अग्नि मन्द पड़ जाती है और ईंधन समाप्त हो जाने पर बुझ जाती है।

श्रील मध्वाचार्य ने अनेक वैदिक शास्त्रों से यह दिखाने के लिए उद्धरण दिये हैं कि माया उस डाइन के समान है, जो बद्धजीवों का पीछा करती रहती है। बद्धजीवों को तीन गुणों में से, जो भी गुण अच्छा लगता है, उसे ही माया प्रदान करती है, किन्तु ऐसी भेंटें उस अग्नि के तुल्य होती हैं, जो हृदय को भस्म कर देती है। इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि यह जगत नरक तुल्य है, जिसमें किसी को कोई स्थायी पद नहीं मिलता। बाहर से हमें अनेक वस्तुओं का अनुभव होता है, भीतर भीतर हम अपने अनुभव का मनन करते हैं और भावी कार्य की योजनाएँ बनाते हैं। इस प्रकार हम बाहर तथा भीतर से अज्ञान के शिकार हैं। असली ज्ञान वेदों से आता है या फिर पूर्ण विद्या के रूप में भगवान् से। यदि हम भगवान् की शरण में जाकर पूर्णरूपेण कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं, तो आनन्द की कमी नहीं रहती, क्योंकि भगवान् आनन्द के आगार हैं और उनके भक्त इस आगार के भीतर मुक्त भाव से विचरण करते हैं।

अथैषाम्कर्मकर्तृणां भोक्तृणां सुखदुःखयोः ।

नानात्वमथ नित्यत्वं लोककालागमात्मनाम् ॥ १४ ॥

मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा ।

तत्तदाकृतिभेदेन जायते भिद्यते च धीः ॥ १५ ॥

एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगतः ।

कालावयवतः सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत् ॥ १६ ॥

### शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; एषाम्—इनका; कर्म—सकाम कर्म; कर्तृणाम्—कर्ताओं के; भोक्तृणाम्—भोक्ताओं के; सुख-दुःखयोः—सुख तथा दुःख में; नानात्वम्—विविधता; अथ—और भी; नित्यत्वम्—नित्यता; लोक—भौतिकतावादी जगत की; काल—समय की; आगम—सकाम कर्म की संस्तुति करने वाला वैदिक वाङ्मय; आत्मनाम्—तथा आत्मा; मन्यसे—यदि तुम सोचते हो; सर्व—समस्त; भावानाम्—भौतिक वस्तुओं का; संस्था—वास्तविक स्थिति; हि—निश्चय ही; औत्पत्तिकी—आदि, मूल; यथा—जिस तरह; तत्-तत्—विभिन्न वस्तुओं में से; आकृति—उनके रूपों के; भेदेन—अन्तर से; जायते—उत्पन्न होता है; भिद्यते—बदलता है; च—भी; धीः—बुद्धि या ज्ञान; एवम्—इस प्रकार; अपि—यद्यपि; अङ्ग—हे उद्धव; सर्वेषाम्—समस्त; देहिनाम्—देहधारियों में से; देह-योगतः—भौतिक शरीर के संपर्क से; काल—समय के; अवयवतः—अंग अंग या अंश अंश कके; सन्ति—हैं; भावाः—दशाएँ; जन्म—जन्म; आदयः—इत्यादि; असकृत्—निरन्तर।



हे उद्धव, मैंने तुम्हें पूर्ण ज्ञान बतला दिया। किन्तु ऐसे भी दार्शनिक हैं, जो मेरे निष्कर्ष का प्रतिवाद करते हैं। उनका कहना है कि जीव का स्वाभाविक पद तो सकाम कर्म में निरत होना है और वे जीव को उसके कर्म से उत्पन्न सुख-दुख के भोक्ता के रूप में देखते हैं। इस भौतिकतावादी दर्शन के अनुसार जगत, काल, प्रामाणिक शास्त्र तथा आत्मा—ये सभी विविधतायुक्त तथा शाश्वत हैं और विकारों के निरन्तर प्रवाह के रूप में विद्यमान रहते हैं। यही नहीं, ज्ञान एक अथवा नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह विविध एवं परिवर्तनशील पदार्थों से उत्पन्न होता है। फलस्वरूप ज्ञान स्वयं भी परिवर्तनशील होता है। हे उद्धव, यदि तुम इस दर्शन को मान भी लो, तो भी जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग सदा बने रहेंगे, क्योंकि सारे जीवों को काल के प्रभाव के अधीन भौतिक शरीर स्वीकार करना होगा।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में भगवान् कृष्ण ने उद्धव से यह कहा, “हे उद्धव! अभी मैंने जो उपदेश दिये, उनमें मैंने जीवन के वास्तविक उद्देश्य की स्पष्टोक्ति कर दी है। किन्तु कुछ लोग ऐसे हैं, विशेष रूप से जैमिनि कवि के अनुयायी, जो मेरे निष्कर्ष का प्रतिवाद करते हैं। यदि तुम उनके ज्ञान को उपयुक्त समझते हो और मेरे उपदेशों को स्वीकार नहीं करते, तो निम्नलिखित व्याख्या सुनो।

जैमिनि के अनुयायियों के अनुसार जीव मूलतः तथा स्वभावतः सकाम कर्मों का कर्ता है और उसके सुख-दुख उसके अपने कर्मों के फल होते हैं। जीवों द्वारा भोग प्राप्त किये जाने वाला यह जगत, उनके द्वारा भोगा गया समय, भोग प्राप्त करने के साधन बतलाने वाले प्रामाणिक शास्त्र तथा वे सूक्ष्म शरीर, जिनसे जीव भोग का अनुभव करता है—ये सारे के सारे न केवल नाना रूपों में विद्यमान रहते हैं, अपितु वे शाश्वत भी हैं।

जीव को भौतिक पदार्थों तथा स्थितियों की नश्वरता देखकर अथवा जगत को माया के रूप में देखकर भौतिक इन्द्रियतृप्ति से विराग उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे भौतिकतावादी दर्शन के अनुसार फूलमाला, चन्दन या सुन्दर स्त्री जैसे भौतिक पदार्थ विशिष्ट प्राकट्यों में क्षणिक होते हैं, किन्तु सृष्टि तथा संहार के प्राकृतिक प्रवाह के माध्यम से वे निरन्तर विद्यमान रहते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि किसी स्त्रीविशेष का स्वरूप नश्वर है, किन्तु भौतिक जगत में सुन्दर स्त्रियाँ सदैव रहेंगी ही। इस

तरह धर्मशास्त्रों के अनुसार सकाम अनुष्ठान (कर्मकाण्ड) सावधानी से करने से मनुष्य जन्म-जन्मांतर खियों तथा सम्पत्ति से भोग्य सम्पर्क बनाये रह सकता है। इस तरह मनुष्य की इन्द्रियतृप्ति शाश्वत बनी रहेगी।

“जैमिनि दार्शनिकों का यह भी कहना है कि ऐसा कोई समय नहीं था, जब यह जगत उस रूप में विद्यमान न रहा हो, जैसाकि आज है, जिसका अर्थ यह है कि इस जगत के बनाने वाला कोई परम नियन्ता नहीं है। उनका दावा है कि इस जगत की व्यवस्था सत्य तथा उपयुक्त है—वह मायामय नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी कहना है कि आत्मा के आदि शाश्वत रूप का कोई नित्य ज्ञान नहीं है। उनका कहना है कि ज्ञान वस्तुतः किसी परम सत्य से नहीं अपितु भौतिक वस्तुओं के अन्तर से उत्पन्न होता है। इसलिए ज्ञान शाश्वत नहीं प्रत्युत परिवर्तनशील है। इस कथन में निहित कल्पना यह है कि ऐसा आत्मा नहीं, जो एक अपरिवर्तनशील सत्य के शाश्वत अविरत ज्ञान से युक्त हो। प्रत्युत चेतना अथवा ज्ञान स्वभाव से ही निरन्तर रूपान्तरणशील है। किन्तु उनका कहना है कि चेतना के निरन्तर रूपान्तरित होने से नित्यता का खण्डन नहीं होता। उनका कहना है कि चेतना शाश्वत रूप से विद्यमान रहती है, किन्तु एक ही रूप में नहीं।

“इस तरह जैमिनि के अनुयायी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ज्ञान का रूपान्तरण उसकी नित्यता का निषेध नहीं करता, प्रत्युत उनका कहना है कि ज्ञान अपने रूपान्तरण के निरन्तर स्वभाव के भीतर शाश्वत रूप से विद्यमान रहता है। इसलिए ये अनुयायी वैराग्य के पथ पर न आकर नियमित इन्द्रियतृप्ति के पथ पर आते हैं, क्योंकि मुक्ति की अवस्था में जीव के अनेक इन्द्रियाँ नहीं होंगी और तब भौतिक ज्ञान का रूपान्तर सम्भव नहीं हो पायेगा। ऐसे दार्शनिकों का विचार है कि मुक्ति की ऐसी अपरिवर्तनशील अवस्था की प्राप्ति जीव की सहज क्रियाशीलता को पंगु बना देगी और यह उसके हित में नहीं होगा। ऐसे भौतिकतावादी दार्शनिकों को निवृत्ति मार्ग रोचक नहीं लगता। ऐसे भौतिकतावादी दर्शन को यदि हम तर्क के तौर पर वैध मान भी लें, तो यह आसानी से दिखलाया जा सकता है कि नियमित इन्द्रियतृप्ति के मार्ग से जीव को तमाम अवांछित और कष्टकारक परिणाम उठाने पड़ सकते हैं। इसलिए भौतिकतावादी दृष्टिकोण से भी वैराग्य वांछनीय है। भौतिक काल दिन, सप्ताह, मास, वर्ष जैसे विभागों में बँटा हुआ है और इस भौतिक काल द्वारा ही जीव को बारम्बार जन्म, मृत्यु, जरा तथा

व्याधि का कष्ट उठाना पड़ता है। ऐसे वास्तविक कष्ट पूरे विश्व को उठाने पड़ते हैं, यह सर्वविदित है।'' श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कहना है कि इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने उद्धव को भौतिकतावादी दर्शन के दोष बतलाये।

हम इसके आगे यह कह सकते हैं कि यदि कोई झूठे तौर पर जैमिनि तथा उनके असंख्य आधुनिक अनुयायियों के नास्तिक दर्शन को स्वीकार करता है, जो जीव जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के कष्ट में सदा फँसा रहता है। यह घटिया नास्तिक दर्शन इन्द्रियतृप्ति को जीवन के एकमात्र लक्ष्य के रूप में प्रोत्साहन देता है, किन्तु ऐसा होने पर जीव नियमित इन्द्रियतृप्ति को अपनाने की गलती करेगा, तो उसे अन्ततः नरक जाना पड़ेगा। भगवान् कृष्ण उद्धव से स्वयं कह रहे हैं कि यह भौतिकतावादी दर्शन मिथ्या है और जीव के वास्तविक हित में नहीं है।

तत्रापि कर्मणां कर्तुरस्वातन्त्र्यं च लक्ष्यते ।

भोक्तुश्च दुःखसुखयोः को न्वर्थो विवशं भजेत् ॥ १७ ॥

#### शब्दार्थ

तत्र—सुख प्राप्त करने की क्षमता के मामले में; अपि—इससे भी आगे; कर्मणाम्—सकाम कर्मों के; कर्तुः—कर्ता के; अस्वातन्त्र्यम्—स्वतंत्रता का अभाव; च—भी; लक्ष्यते—स्पष्ट दिखाता है; भोक्तुः—भोक्ता का; च—भी; दुःख-सुखयोः—दुख तथा सुख; कः—क्या; नु—निस्सन्देह; अर्थः—महत्त्व; विवशम्—असंयमी के लिए; भजेत्—प्राप्त किया जा सकता है।

यद्यपि सकाम कर्म करने वाला शाश्वत सुख की इच्छा करता है, किन्तु यह स्पष्ट देखने में आता है कि भौतिकतावादी कर्मीजन प्रायः दुखी रहते हैं और कभी-कभी ही तुष्ट होते हैं। इस तरह यह सिद्ध होता है कि वे न तो स्वतंत्र होते हैं, न ही अपना भाग्य उनके नियंत्रण में होता है। जब कोई व्यक्ति सदा ही दूसरे के नियंत्रण में रह रहा हो, तो फिर वह अपने सकाम कर्मों से किसी महत्त्वपूर्ण परिणाम की आशा कैसे रख सकता है?

तात्पर्य : यद्यपि भौतिकतावादी लोग कृष्णभावनामृत का बहिष्कार करके क्षणिक इन्द्रियतृप्ति के पीछे लगे रहते हैं, किन्तु यह इन्द्रियतृप्ति भी प्रायः उनकी पहुँच के बाहर होती है। यदि कोई व्यक्ति अपने भाग्य को वश में कर पाता, तो फिर वह अपने लिए समस्याएँ क्यों उत्पन्न करता? कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति अपने या अपने प्रियजनों पर मृत्यु, बुढ़ापा या रोग क्यों लादेगा? मनुष्य को यह मानना होगा कि ये अवांछित कष्ट किसी उच्च शक्ति द्वारा उस पर लादे जा रहे हैं। चूँकि हम स्पष्टतया सर्वोच्च

सत्ता के अधीन हैं, इसलिए ऐसा नास्तिकतावादी दर्शन, जो मनुष्य को केवल सकाम कर्म करने और सुखी जीवन लाने का उपदेश देता हो, नितान्त अपूर्ण है।

सुख-दुख तो काल के प्रभाव से उत्पन्न हैं। जब कोई स्त्री गर्भवती होती है, तो उसका पति, उसके सम्बन्धी तथा इष्टमित्र उत्सुकतापूर्वक शिशु-जन्म की प्रतीक्षा करते हैं। समय बीतने पर जब शिशु जन्मता है, तो सबों को परम सुख होता है। किन्तु ज्यों ज्यों बालक वृद्ध होता है और अन्त में जब वह मरता है, तो वही कालक्रम कष्ट का कारण बन जाता है। अज्ञानी व्यक्ति व्यर्थ ही उन वैज्ञानिकों की सहायता के लिए मुँह ताकते हैं, जो मृत्यु को रोकने के लिए अपनी प्रयोगशालाओं में बड़ी तेजी से तथा निरर्थक ही कार्य करते हैं। आधुनिककाल में जीवन की असुविधाओं को दूर करने के लिए अविष्कार किये गये हैं, किन्तु इनसे विश्व-भर के करोड़ों लोगों को असहनीय असुविधा ही हुई है। केवल महामूर्ख व्यक्ति ही यह प्रस्ताव करेगा कि परम नियन्ता कोई नहीं है और मनुष्य कुशल भौतिक कार्यों के द्वारा अनुकूल फल पा सकता है। अन्ततोगत्वा सारे कार्यकलाप व्यर्थ हैं, क्योंकि उनकी चरम परिणति संहार होती है। यदि मोटर-कार चलाने वालों के पास सीमित नियंत्रण रहे, तो स्थिति और भी गम्भीर होती है, क्योंकि इससे दुर्घटना होनी अनिवार्य है। इसी तरह यद्यपि हम शरीर को सुख की ओर ले जाना चाहते हैं, किन्तु शारीरिक आवश्यकताओं पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं होता, अतएव दुर्घटना अवश्यम्भावी है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३) में कहा गया है—

*अश्रद्धधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।*

*अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥*

“हे परन्तप! जो लोग भक्ति में श्रद्धा नहीं रखते वे मुझे प्राप्त नहीं कर पाते। अतः वे इस भौतिक जगत में जन्म-मृत्यु के मार्ग पर वापस आते रहते हैं।” यदि कोई भगवान् कृष्ण का भक्त नहीं है, तो उसके कर्मों का अन्तिम परिणाम ‘मृत्यु-संसार’ मात्र है अर्थात् बारम्बार जन्म तथा मृत्यु।

न देहिनां सुखं किञ्चिद्विद्यते विदुषामपि ।

तथा च दुःखं मूढानां वृथाहङ्करणं परम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; देहिनाम्—देहधारी जीवों के; सुखम्—सुख; किञ्चित्—थोड़ा; विद्यते—है; विदुषाम्—बुद्धिमानों के; अपि—भी; तथा—उसी तरह; च—भी; दुःखम्—दुख; मूढानाम्—महामूर्खों के; वृथा—व्यर्थ; अहङ्करणम्—मिथ्या अहंकार; परम्—एकमात्र या पूरी तरह से।

संसार में यह देखा जाता है कि कभी कभी बुद्धिमान व्यक्ति भी सुखी नहीं रहता। इसी तरह कभी कभी महा मूर्ख भी सुखी रहता है। भौतिक कार्यों को दक्षतापूर्वक संपन्न करके सुखी बनने की विचारधारा मिथ्या अहंकार का व्यर्थ प्रदर्शन मात्र है।

तात्पर्य : ऐसा तर्क किया जा सकता है कि बुद्धिमान व्यक्ति इस संसार में दक्षतापूर्वक पुण्यकार्य कर सकता है और इस तरह वह कभी कष्ट नहीं पायेगा, क्योंकि दुख तो पापपूर्ण या अपवित्र कार्यों से उत्पन्न होता है। किन्तु प्रायः पवित्र, बुद्धिमान व्यक्तियों को भी महान् कष्ट भोगते देखा गया है, क्योंकि कभी कभी वे अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर पाते और कभी कभी जाने या अनजाने निषिद्ध कर्म करते हैं। इस तर्क से भगवान् इस सिद्धान्त का खण्डन करते हैं कि भौतिक शुद्धता के बल पर ही मनुष्य बिना कृष्णभावनामृत के निरन्तर सुखी रह सकता है।

दूसरी ओर, यह देखा जाता है कि महा मूर्ख या पापी व्यक्ति भी कभी कभी सुख का अनुभव करते हैं, क्योंकि पाप में लगे व्यक्ति भी कभी कभी किसी तीर्थस्थान की यात्रा करके अथवा किसी सन्त-पुरुष की सहायता करके संयोगवश कुछ पुण्यकर्म कर लेते हैं। ईश्वर की भौतिक सृष्टि इतनी जटिल और मोहग्रस्त करनेवाली है कि जो लोग शुद्धता के प्रति समर्पित होते हैं, वे भी कभी कभी पुण्यकर्म कर लेते हैं। इसलिए हमें भौतिक जगत में न तो परम सुख मिलता है, न परम दुख। प्रत्युत हर व्यक्ति पूर्ण ज्ञान के बिना इधर-उधर भ्रमित-सा मँडराता रहता है। शुद्धता तथा पाप सापेक्ष भौतिक विचार हैं, जो सापेक्ष सुख तथा दुख प्रदान करते हैं। परम सुख का अनुभव कृष्णभावनामृत के पूर्ण पद पर या ईश-प्रेम के पद पर किया जाता है। भौतिक जीवन सदैव ही द्विधापूर्ण तथा सापेक्ष रहा है, जबकि कृष्णभावनामृत पूर्ण सुख का वास्तविक पद है।

यदि प्राप्ति विघातं च जानन्ति सुखदुःखयोः ।

तेऽप्यद्वा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद्यथा ॥ १९ ॥

#### शब्दार्थ

यदि—यदि; प्राप्तिम्—उपलब्धि; विघातम्—नाश, हटाया जाना; च—भी; जानन्ति—वे जानते हैं; सुख—सुख; दुःखयोः—तथा दुख को; ते—वे; अपि—फिर भी; अद्वा—प्रत्यक्ष; न—नहीं; विदुः—जानते हैं; योगम्—विधि; मृत्युः—मृत्यु; न—नहीं; प्रभवेत्—अपनी शक्ति दिखलाते हैं; यथा—जिससे।

यदि लोग यह जान भी लें कि किस तरह सुख प्राप्त किया जाता है और किस तरह दुख से बचा जाता है, तो भी वे उस विधि को नहीं जानते, जिससे मृत्यु उनके ऊपर अपनी शक्ति का प्रभाव न डाल सके।

**तात्पर्य :** यदि तथाकथित बुद्धिमान भौतिकतावादी लोग सुख प्राप्त करने तथा दुख को नष्ट करने का साधन जानते हैं, तो उन्हें चाहिए कि अवश्यम्भावी मृत्यु से लोगों का उद्धार करें। विज्ञानीजन इस समस्या को हल करने में जुटे हुए हैं, किन्तु क्योंकि वे पूरी तरह असफल रहे हैं, अतः यह मानना होगा कि वे वास्तव में बुद्धिमान नहीं हैं और वे सुख प्राप्त करने तथा कष्ट दूर करने के साधन नहीं जानते। यह सोचना निरी मूर्खता होगी कि गर्दन के ऊपर तलवार लटकती रहे और मनुष्य सुखी रहे। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है—*मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*—मैं तुम्हारे समक्ष मृत्यु-रूप में उपस्थित होता हूँ और प्रत्येक वस्तु को हर ले जाता हूँ—हमें आँख मूँदकर भौतिक जीवन के संकट की अनदेखी नहीं करनी चाहिए, अपितु भगवान् की अहैतुकी कृपा को स्वीकार करना चाहिए, जिसे उन्होंने चैतन्य महाप्रभु के अवतार-रूप में हमें उदारता से प्रदान किया है। हमें चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों में अपने को समर्पित करना चाहिए, जो मुँहमाँगा सुख प्राप्त करने का वास्तविक साधन—भगवन्नाम का कीर्तन—प्रदान करने वाले हैं। यह प्रभु की इच्छा है और इस विधि को अपनाना हमारे स्वार्थ में है।

**कोऽन्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके ।**

**आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः ॥ २० ॥**

#### शब्दार्थ

कः—कौन; नु—निश्चय ही; अर्थः—भौतिक पदार्थ; सुखयति—सुख देता है; एनम्—पुरुष को; कामः—भौतिक वस्तुओं से मिलने वाली इन्द्रियतृप्ति; वा—अथवा; मृत्युः—मृत्यु; अन्तिके—पास ही खड़ी; आघातम्—घटनास्थल तक; नीयमानस्य—ले जाये जाने वाले का; वध्यस्य—वध किये जाने वाले का; इव—सदृश; न—तनिक भी नहीं; तुष्टि-दः—सन्तोष प्रदान करता है।

मृत्यु अच्छी नहीं लगती, और क्योंकि हर व्यक्ति फाँसी के स्थान पर ले जाये जाने वाले दण्डित व्यक्ति के समान है, तो फिर भौतिक वस्तुओं या उनसे प्राप्त तृप्ति से लोगों को कौन-सा संभव सुख मिल सकता है?

**तात्पर्य :** सारे विश्व में यह प्रथा है कि फाँसी देने से पहले व्यक्ति को अन्तिम सुस्वादु भोजन कराया जाता है। किन्तु ऐसे व्यक्ति के लिए ऐसा भोजन उसकी आसन्न मृत्यु को दुखद् स्मरण दिलाने वाला होता है अतएव वह उसका आनन्द नहीं उठा पाता। इसी प्रकार कोई भी विवेकवान् व्यक्ति

भौतिक जीवन से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि मृत्यु निकट ही खड़ी रहती है और वह किसी भी क्षण दबोच सकती है। यदि कोई व्यक्ति अपने रिहायशी कमरे में बैठा हो और पास ही एक कोने पर विषधर सर्प बैठा हो, तो भला कोई शान्तिपूर्वक किस तरह टेलीविजन देख सकता है या पुस्तक पढ़ सकता है, जबकि वह जानता है कि विषैले दन्त किसी क्षण भी उसके शरीर को डस सकते हैं? इसी तरह जब तक कोई न्यूनाधिक सनकी न हो, भला वह भौतिक जीवन के प्रति उत्साहपूर्ण या शान्त कैसे हो सकता है? मृत्यु की अपरिहार्यता के ज्ञान से मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन के प्रति दृढ़-संकल्प बनने के लिए प्रोत्साहित होना चाहिए।

श्रुतं च दृष्टवद्दुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः ।

बहन्तरायकामत्वात्कृषिवच्चापि निष्फलम् ॥ २१ ॥

#### शब्दार्थ

श्रुतम्—सुना हुआ भौतिक सुख; च—भी; दृष्ट-वत्—मानो पहले से देखा हुआ हो; दुष्टम्—कलुषित; स्पर्धा—ईर्ष्या से; असूया—द्वेष से; अत्यय—मृत्यु से; व्ययैः—क्षय द्वारा; बहु—अनेक; अन्तराय—व्यवधान; कामत्वात्—सुख को स्वीकार करने से; कृषि-वत्—खेती की तरह; च—भी; अपि—ही; निष्फलम्—फलरहित।

वह भौतिक सुख, जिसके बारे में हम सुनते रहते हैं, ( यथा दैवी सुख-भोग के लिए स्वर्गलोक की प्राप्ति ), हमारे द्वारा अनुभूत भौतिक सुख के ही समान है। ये दोनों ही ईर्ष्या, द्वेष, क्षय तथा मृत्यु से दूषित रहते हैं। इसलिए जिस तरह फसल के रोग, कीट या सूखा जैसी समस्याएँ उत्पन्न होने पर फसलें उगाना व्यर्थ हो जाता है, उसी तरह पृथ्वी पर या स्वर्गलोक में भौतिक सुख प्राप्त करने का प्रयास अनेक व्यवधानों के कारण निष्फल हो जाता है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है—  
“सामान्य रूप से, यदि कोई विशेष व्यवधान न पड़े, तो कृषि विषयक प्रयत्न सफल होते हैं। किन्तु यदि बीज में कोई दोष हो या फिर भूमि अधिक खारी या बंजर हो या कि सूखा, प्लेग, मौसम के प्रतिकूल अधिक वर्षा या अधिक गर्मी पड़े या फिर पशु, पक्षी या कीड़े उत्पात मचायें तो कृषि-कर्म से वांछित फसल प्राप्त नहीं होगी। इसी तरह जो लोग भौतिक जगत का विश्लेषण करने में दक्ष होते हैं, वे देखते हैं कि वेदों में, जो स्वर्ग की स्थितियाँ बतलायी गयी हैं, वे पृथ्वी के जीवन से भिन्न नहीं हैं। बद्धजीवों में परस्पर मेल-मिलाप से ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न होना अनिवार्य है, जब कोई व्यक्ति ऊँचा उठ जाता है और दूसरा नीचे रह जाता है। समय के साथ ये पद उलट जाते हैं, इसलिए स्वर्गलोक में भी

हिंसा, झगड़े तथा षड्यंत्र होने से उपद्रव मचा रहता है। वस्तुतः स्वर्गलोक तक पहुँचने के प्रयास अपने आप में समस्याओं तथा उत्पातों से पूर्ण हैं। इसलिए यह समझ लेना होगा कि वैकुण्ठ, जो कि ईश्वर का धाम है, इस जगत द्वारा लागू होने वाले प्रकृति के कानूनों की सीमाओं तथा झगड़ों से परे है। यदि कोई यह गलत ही सोचे कि वैकुण्ठ में भी ये सारी अपूर्णताएँ पाई जाती हैं, तो वह भौतिक कल्मष से कलुषित हो जायेगा।”

अन्तरायैरविहितो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः ।

तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु ॥ २२ ॥

#### शब्दार्थ

अन्तरायैः—अवरोधों तथा न्यूनताओं से; अविहितः—अप्रभावित; यदि—यदि; धर्मः—वैदिक आदेशों के अनुसार नियमित कर्तव्यों का पालन; स्व-अनुष्ठितः—ढंग से सम्पादित; तेन—उसके द्वारा; अपि—भी; निर्जितम्—सम्पन्न; स्थानम्—पद; यथा—जिस तरह से; गच्छति—नष्ट होता है; तत्—उसे; शृणु—सुनो।

यदि कोई व्यक्ति किसी त्रुटि या कल्मष के बिना वैदिक यज्ञ तथा कर्मकाण्ड सम्पन्न करता है, तो उसे अगले जीवन में स्वर्ग में स्थान मिलेगा। किन्तु कर्मकांड द्वारा प्राप्त किया जाने वाला यह फल भी काल के द्वारा नष्ट कर दिया जायेगा। अब इसके विषय में सुनो।

तात्पर्य : गच्छति शब्द का अर्थ है “जा रहा है।” भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं—  
आगमापायिनोऽनित्याः—अच्छे या बुरे सभी प्रकार के अनुभव आते-जाते रहते हैं। इसलिए गच्छति शब्द अच्छे से अच्छे सम्पन्न हुए सकाम यज्ञ के फल के लुप्त होने का सूचक है। कोई भी भौतिक पद, चाहे कितना भी बुरा या अच्छा हो, अपूर्ण होता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध कृष्णभावनामृत के लिए ही प्रयास करे।

इष्टेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः ।

भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान्दिव्यान्निरजितान् ॥ २३ ॥

#### शब्दार्थ

इष्टा—पूजा करके; इह—इस जगत में; देवताः—देवतागण; यज्ञैः—यज्ञ द्वारा; स्वः-लोकम्—स्वर्गलोक को; याति—जाता है; याज्ञिकः—यज्ञ करने वाला; भुञ्जीत—भोग सकता है; देव-वत्—देवता के समान; तत्र—जिसमें; भोगान्—आनन्द; दिव्यान्—दिव्य; निज—अपने से; अर्जितान्—अर्जित किये हुए।



यदि पृथ्वी पर कोई व्यक्ति देवताओं की तुष्टि के लिए यज्ञ सम्पन्न करता है, तो वह स्वर्गलोक जाता है, जहाँ वह देवताओं की ही तरह अपने कार्यों से अर्जित सभी प्रकार के स्वर्ग-सुख का भोग करता है।

स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते ।  
गन्धर्वैर्विहरन्मध्ये देवीनां हृद्यवेषधृक् ॥ २४ ॥

#### शब्दार्थ

स्व—अपने; पुण्य—पुण्यकर्मों से; उपचिते—संचित; शुभ्रे—चमकीले; विमाने—वायुयान में; उपगीयते—गीतों द्वारा महिमा गाई जाती है; गन्धर्वैः—गन्धर्वों द्वारा; विहरन्—जीवन का आनन्द मनाते; मध्ये—बीच में; देवीनाम्—स्वर्ग की देवियों के; हृद्य—मनोहर; वेष—वस्त्र; धृक्—धारण किये।

स्वर्ग प्राप्त कर लेने के बाद यज्ञ करने वाला व्यक्ति चमचमाते वायुयान में बैठ कर यात्रा करता है, जो उसे पृथ्वी पर उसके पुण्यकर्म के फलस्वरूप प्राप्त होता है। वह गन्धर्वों द्वारा यशोगान किया जाकर तथा अतीव मोहक वस्त्र पहने स्वर्ग की देवियों से घिर कर जीवन का आनन्द लेता है।

स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किणीजालमालिना ।  
क्रीडन्न वेदात्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः ॥ २५ ॥

#### शब्दार्थ

स्त्रीभिः—स्वर्ग की स्त्रियों के साथ; काम-ग—इच्छानुसार भ्रमण करते हुए; यानेन—वायुयान द्वारा; किङ्किणी-जाल-मालिना—बजती घंटियों के मंडलों से अलंकृत; क्रीडन्—विहार करते; न—नहीं; वेद—विचार करता है; आत्म—निजी; पातम्—पतन को; सुर—देवताओं के; आक्रीडेषु—विहार-उद्यानों में; निर्वृतः—अत्यन्त सुखी तथा आराम का अनुभव करता।

यज्ञ फल का भोक्ता स्वर्ग की सुन्दरियों को साथ लेकर ऐसे अद्भुत विमान में चढ़कर सैर सपाटे के लिए जाता है, जो रुनझुन शब्द करती घंटियों से गोलाकार में सजाया रहता है और जहाँ भी चाहे उड़ जाता है। वह स्वर्ग के विहार-उद्यानों में नितान्त सुख एवं आराम का अनुभव करते हुए इस पर विचार ही नहीं करता कि वह अपने पुण्यकर्मों के फल को समाप्त कर रहा है और शीघ्र ही मर्त्यलोक में जा गिरेगा।

तावत्स मोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते ।  
क्षीणपुन्यः पतत्यर्वागनिच्छन्कालचालितः ॥ २६ ॥

#### शब्दार्थ

तावत्—तब तक; सः—वह; मोदते—आनन्द मनाता है; स्वर्गे—स्वर्ग में; यावत्—जब तक; पुण्यम्—उसके पवित्र फल; समाप्यते—समाप्त हो जाते हैं; क्षीण—घट जाते हैं; पुण्यः—उसका पुण्य; पतति—गिर जाता है; अर्वाक्—स्वर्ग से; अनिच्छन्—न चाहते हुए; काल—समय के द्वारा; चालितः—नीचे धकेला गया।

यज्ञकर्ता तब तक स्वर्गलोक में जीवन का आनन्द लेता है, जब तक उसके पुण्यकर्मों का फल समाप्त नहीं हो जाता। किन्तु जब पुण्यफल चुक जाते हैं, तो नित्य काल की शक्ति द्वारा वह उसकी इच्छा के विरुद्ध स्वर्ग के विहार स्थलों से धकिया कर नीचे गिरा दिया जाता है।

यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वाजितेन्द्रियः ।

कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः ॥ २७ ॥

पशूनविधिनालभ्य प्रेतभूतगणान्यजन् ।

नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः ॥ २८ ॥

कर्माणि दुःखोदकाणि कुर्वन्देहेन तैः पुनः ।

देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥ २९ ॥

#### शब्दार्थ

यदि—यदि; अधर्म—अधर्म में; रतः—लगा हुआ; सङ्गात्—संगति के फलस्वरूप; असताम्—भौतिकतावादी लोगों की; वा—अथवा; अजित—न जीतने के कारण; इन्द्रियः—इन्द्रियाँ; काम—भौतिक कामेच्छाएँ; आत्मा—के लिए जीवित; कृपणः—कंजूस; लुब्धः—लोभी; स्त्रैणः—स्त्रियों के पीछे पड़ने वाला; भूत—अन्य जीवों के विरुद्ध; विहिंसकः—हिंसा करते हुए; पशून्—पशुओं को; अविधिना—वैदिक आदेशों के अधिकार के बिना; आलभ्य—मारकर; प्रेत-भूत—भूत-प्रेत; गणान्—समूहों; यजन्—पूजा करते हुए; नरकान्—नरकों को; अवशः—निरुपाय, सकाम कर्मों के अधीन; जन्तुः—जीव; गत्वा—जाकर; याति—पहुँचता है; उल्बणम्—घने; तमः—अंधकार में; कर्माणि—कर्म; दुःख—दुख; उदकाणि—भविष्य में लाने वाले; कुर्वन्—करते हुए; देहेन—ऐसे शरीर से; तैः—ऐसे कर्मों से; पुनः—फिर; देहम्—शरीर; आभजते—स्वीकार करता है; तत्र—वहाँ; किम्—क्या; सुखम्—सुख; मर्त्य—मरणशील; धर्मिणः—कर्म करने वाले का।

यदि मनुष्य बुरी संगति के कारण अथवा इन्द्रियों को अपने वश में न कर पाने के कारण पापमय अधार्मिक कार्यों में लिप्त रहता है, तो ऐसा व्यक्ति निश्चित ही भौतिक इच्छाओं से पूर्ण व्यक्तित्व को जन्म देता है। इस तरह वह अन्यों के प्रति कंजूस, लालची तथा स्त्रियों के शरीरों का लाभ उठाने का सदैव इच्छुक बन जाता है। जब मन इस तरह दूषित हो जाता है, तो वह हिंसक तथा उग्र हो उठता है और वेदों के आदेशों के विरुद्ध अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए निरीह पशुओं का वध करने लगता है। भूत-प्रेतों की पूजा करने से ऐसा मोहग्रस्त व्यक्ति अवैध कार्यों की गिरफ्त में आ जाता है और नरक को जाता है, जहाँ उसे तमोगुण से युक्त भौतिक शरीर प्राप्त होता है। ऐसे अधम शरीर से वह दुर्भाग्यवश अशुभ कर्म करता रहता है, जिससे उसका भावी दुख बढ़ता जाता है, अतएव वह पुनः वैसा ही भौतिक शरीर स्वीकार करता है। ऐसे व्यक्ति के

लिए ऐसा कौन-सा सुख हो सकता है, जिसके लिए वह अपने को ऐसे कार्यों में लगाता है, जो अपरिहार्य रूप से मृत्यु पर समाप्त हो जाते हैं ?

**तात्पर्य :** सभ्य जीवन हेतु वैदिक विश्लेषण से दो मार्ग निकलते हैं। जो व्यक्ति *निवृत्ति मार्ग* को ग्रहण करता है, वह तुरन्त ही भौतिक इन्द्रियतृप्ति का परित्याग कर देता है और तपस्या तथा भक्ति-कर्मों के द्वारा अपने जीवन को शुद्ध बनाता है। *प्रवृत्ति मार्ग* में वह इन्द्रियों को निरन्तर इन्द्रिय-विषयों की पूर्ति कराता रहता है, किन्तु वह इन इन्द्रिय-विषयों का उपयोग कठोर विधि-विधानों तथा कर्मकाण्ड के अनुसार करता है, जिससे उसका हृदय क्रमशः शुद्ध हो जाता है और भौतिक इन्द्रियों की प्यास बुझती है। जैसाकि इस श्लोक में तथा पिछले श्लोक में बतलाया गया है, दुर्भाग्यवश प्रवृत्ति मार्ग अत्यन्त चलायमान है, जिससे जीव विरक्त होने की बजाय अपने वश से बाहर होता जाता है और इन्द्रियतृप्ति में अधिकाधिक लिप्त हो जाता है। पिछले श्लोक में नियमित वैध इन्द्रियतृप्ति के मार्ग का वर्णन किया गया था और इस श्लोक में अवैध आसुरी इन्द्रियतृप्ति के मार्ग का वर्णन हुआ है।

इस श्लोक में *सङ्गद् असतां वाजितेन्द्रियः* पद महत्वपूर्ण है। बुरी संगति से मनुष्य पापमय जीवन में गिर सकता है, अथवा अच्छी संगति में भी हो सकता है वह अपनी इन्द्रियों को वश में करने में असफल रह जाते हैं। अन्ततोगत्वा हर जीव अपने अस्तित्व के लिए उत्तरदायी है। इस श्लोक का *अधर्मरतः* शब्द अत्यधिक यौन-जीवन, मांसाहार, सुरापान तथा मानव आचार संहिता का उल्लंघन करने वाले अन्य अशुभ कार्यों में अत्यधिक संलग्न होने को इंगित करने वाला है। तमोगुणी होने के कारण ऐसे लोगों में क्रूर मनोवृत्ति विकसित होती है, जिससे वे किसी भी उत्सव को असहाय पशुओं के वध से प्राप्त प्रचुर मांस के उपभोग के बिना व्यर्थ मानते हैं। अन्ततः ऐसे लोग भूत-प्रेतों के वशीभूत होते हैं, जो उनके अच्छे-बुरे के विवेक को हर लेते हैं। समस्त प्रकार की शालीनता खोकर ऐसे व्यक्ति भौतिक जीवन के घने अंधकार में जाने के पात्र बन जाते हैं। कभी कभी ऐसे कामी, उन्मत्त मांसभक्षी अपने को पवित्र मानकर व्यर्थ ही ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। वे असंख्य भौतिक इच्छाओं से पीड़ित होकर एक शरीर से दूसरे में चक्कर काटते रहते हैं और उन्हें सही सुख नहीं मिल पाता। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने लिखा है कि भौतिक जीवन इतना विचलित करने वाला होता है कि ब्रह्मा के पूरे दिन—लगभग ८,६४,००,००,००० वर्ष का जीवन पाकर भी वह मृत्यु के भय से पीड़ित

रहता रहेगा। वस्तुतः साक्षात् ब्रह्मा भी मृत्यु-भय से विक्षुब्ध रहते हैं, तो फिर ७०-८० वर्षों तक जीवित रहने वाले क्षुद्र मनुष्यों के विषय में क्या कहा जा सकता है? इसीलिए यहाँ पर कहा गया है— किं सुखं मर्त्यधर्मिणः—जो लोग भौतिक मोह के दुखदाई मुट्टी में हैं, वे कौन-सा सुख पा सकते हैं?

लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम् ।  
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्धपरायुषः ॥ ३० ॥

#### शब्दार्थ

लोकानाम्—समस्त लोकों में; लोक-पालानाम्—तथा समस्त लोक-नायकों यथा देवताओं के लिए; मत्—मेरा; भयम्—भय रहता है; कल्प-जीविनाम्—एक कल्प अर्थात् ब्रह्मा के एक दिन की आयु वालों के लिए; ब्रह्मणः—ब्रह्मा का; अपि—भी; भयम्—डर है; मत्तः—मुझसे; द्वि-परार्ध—दो परार्ध जो मिलाकर ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष होते हैं; पर—परम; आयुषः—आयु वाले।

स्वर्ग से लेकर नरक तक सभी लोकों में तथा उन समस्त महान् देवताओं के लिए जो १,००० चतुर्युग तक जीवित रहते हैं, मुझ कालरूप के प्रति भय व्याप्त रहता है। यहाँ तक कि ब्रह्माजी, जिनकी आयु ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष है भी मुझसे डरे रहते हैं।

तात्पर्य : वैदिक वाङ्मय ऐसे कथनों से भरा पड़ा है, जो यह सिद्ध करते हैं कि बड़े बड़े देवता तक भगवान् की कालशक्ति से भयभीत रहते हैं। यहाँ तक कि स्वर्गलोक तक में भौतिक जीवन के कष्टों से पिंड नहीं छूटता। कोई भी बद्धजीव शाश्वत रूप से जीवित नहीं रह सकता, जैसाकि हिरण्यकशिपु तथा अन्य असुरों की मृत्युओं से प्रदर्शित होता है। चूँकि देवतागण भी भगवान् की कालशक्ति से भयभीत रहते हैं, अतः सरलतापूर्वक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कृष्ण ही परम सत्य हैं और वे हर वस्तु के परम नियन्ता हैं। एकमात्र भगवान् कृष्ण असली आश्रय हैं।

गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान् ।  
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ ॥ ३१ ॥

#### शब्दार्थ

गुणाः—भौतिक इन्द्रियाँ; सृजन्ति—उत्पन्न करती हैं; कर्माणि—शुभ तथा अशुभ कर्मों को; गुणः—प्रकृति के तीन गुण; अनुसृजते—गति प्रदान करते हैं; गुणान्—भौतिक इन्द्रियों को; जीवः—सूक्ष्म जीव; तु—निस्सन्देह; गुण—भौतिक इन्द्रिय अथवा गुण; संयुक्तः—संलग्न; भुङ्क्ते—अनुभव करता है; कर्म—कर्मों के; फलानि—विविध परिणाम; असौ—वह आत्मा।

भौतिक इन्द्रियाँ पवित्र या पापमय कर्म उत्पन्न करती हैं और प्रकृति के गुण भौतिक इन्द्रियों को गति प्रदान करते हैं। जीव इन भौतिक इन्द्रियों तथा प्रकृति के गुणों में पूरी तरह संलग्न रहकर सकाम कर्म के विविध फलों का अनुभव करता है।

**तात्पर्य :** पिछले श्लोकों में बतलाया गया है कि सकाम कर्मों के वशीभूत होने से जीव को नरक में धकेल दिया जाता है। इस श्लोक में सकाम कर्मों पर जीव की अधीनता की वास्तविक प्रकृति का वर्णन हुआ है। यह देखा जा सकता है कि मनुष्य के कर्म भौतिक इन्द्रियों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं और जीव ऐसे कर्मों से केवल अवगत ही रहता है। चाहे वह देवताओं की पूजा करता हो, यौन का भोग करता हो या कृषी अथवा बौद्धिक कार्य करता हो, प्रत्येक दशा में भौतिक इन्द्रियाँ ही कार्य करती हैं।

कोई यह तर्क कर सकता है कि आत्मा इन्द्रियों के कार्यों का शुभारम्भ करता है, अतएव वही अनन्तिम कर्ता है, किन्तु ऐसे मिथ्या अहंवाद का निराकरण *गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान्*—इस कथन से हो जाता है। प्रकृति के तीन गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण—भौतिक इन्द्रियों के कार्यों को उत्तेजित करते हैं और जीव किसी एक गुण के वशीभूत होकर अपने कर्म के अच्छे या बुरे फल को केवल अनुभव करता है। इससे स्वेच्छा का निषेध नहीं होता, क्योंकि जीव विभिन्न गुणों से संगति करना चाहता है। खाने, बोलने, संभोग करने इत्यादि से जीव प्रकृति के विविध गुणों से संगति करता है और विशिष्ट मनोवृत्ति विकसित करता है। किन्तु इन सबों में प्रकृति के गुण कर्म करते हैं, न कि जीव। इस श्लोक का *असौ* शब्द इंगित करता है कि जीव मिथ्या ही प्रकृति द्वारा सम्पन्न कार्य के लिए अपने को कर्ता मानता है। *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—

*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।*

*अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥*

“जीवात्मा अहंकार के प्रभाव से मोहग्रस्त होकर अपने आपको समस्त कार्यों का कर्ता मान बैठता है, जबकि वास्तव में वे प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।” जीवन के इस मिथ्या अहंकार को त्याग करके तथा भगवद्भक्ति को ग्रहण करके ही बद्धजीव को मुक्त बनाया जा सकता है, जिससे जीव अर्थात् भगवान् की तटस्था शक्ति, उनकी बहिरंगा शक्ति अर्थात् माया के विक्षोभकारी प्रभाव से बच जाता है। भगवद्भक्ति में मुक्त जीव अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप का अनुभव करता है।

अच्छा फल पाने के लिए कर्म करना स्वाभाविक है। किन्तु सर्वोत्तम फल उसे प्राप्त हो सकता है, जो भगवान् के दास रूप में अपने स्वाभाविक पद में पुनः स्थापित होने की इच्छा से भक्ति करता है। इस तरह किसी विशेष फल के लिए अपने ही कर्मों का दुष्प्रयोग करने की प्रवृत्ति को शुद्ध बनाया जा सकता है। तब प्रकृति के गुण तथा भौतिक इन्द्रियाँ जीव को माया में नहीं लगा सकेंगी। जीव स्वभाव से आनन्दमय है और जब उसका मोह समाप्त हो जाता है, तो सारे कष्टों का अन्त हो जाता है। तब मुक्त आत्मा वैकुण्ठ में रहने के लिए उपयुक्त होता है।

यावत्स्याद्गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः ।

नानात्वमात्मनो यावत्पारतन्त्र्यं तदैव हि ॥ ३२ ॥

#### शब्दार्थ

यावत्—जब तक; स्यात्—है; गुण—प्रकृति के गुणों का; वैषम्यम्—पृथक् अस्तित्व; तावत्—तब तक रहेगा; नानात्वम्—विविधता; आत्मनः—आत्मा की; नानात्वम्—विविधता; आत्मनः—आत्मा की; यावत्—जब तक हैं; पारतन्त्र्यम्—पराधीनता; तदा—तब होंगे; एव—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह।

जब तक जीव यह सोचता है कि प्रकृति के गुणों का अलग अलग अस्तित्व है, तब तक वह अनेक रूपों में जन्म लेने के लिए बाध्य होगा और वह अनेक प्रकार के भौतिक जीवन का अनुभव करेगा। इसलिए जीव प्रकृति के गुणों के अधीन सकाम कर्मों पर पूरी तरह आश्रित रहता है।

तात्पर्य : गुण-वैषम्यम् शब्द भगवान् कृष्ण के विस्मरण का सूचक है, जिसके कारण मनुष्य विभिन्न भौतिक विविधताओं को पृथक् सत्ता के रूप में देखता है। जीव इन भौतिक विविधताओं के प्रति आकृष्ट होने तथा उनमें श्रद्धा रखने के कारण इन विविधताओं को विभिन्न भौतिक शरीरों में यथा देवता, शूकर, व्यापारी, कीट इत्यादि में अनुभव करने के लिए बाध्य हो जाता है। कर्ममीमांसा दार्शनिकों के अनुसार ऐसा कोई दिव्य जीव नहीं, जो सारे जगत का मूलाधार हो। वे भौतिक विविधता को अन्तिम सत्य मानते हैं। किन्तु हर वस्तु के वास्तविक आधार, तो भगवान् कृष्ण हैं। हर वस्तु उनमें है और वे हर वस्तु में हैं। भगवान् का शुद्ध भक्त कृष्ण को सर्वत्र देखता है और प्रकृति के विविध गुणों को भगवान् कृष्ण की शक्ति के रूप में मानता है। जो कृष्ण को नहीं देखता, वह निश्चय ही विविधता को परम सत्य के रूप में देखेगा। ऐसी दृष्टि माया कहलाती है और वह पशु-दृष्टि के समान है।

पारतन्त्रयम् का अर्थ है कि मनुष्य तब तक सकाम कर्मों के जाल में जकड़ा रहेगा, जब तक वह अपनी उथली विभाजक दृष्टि को छोड़ नहीं देता।

यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम् ।

य एतत्समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः ॥ ३३ ॥

#### शब्दार्थ

यावत्—जब तक; अस्य—जीव का; अस्वतन्त्रत्वम्—प्रकृति के गुणों पर निर्भरता से स्वतंत्र नहीं है; तावत्—तब होगा; ईश्वरतः—परम नियन्ता से; भयम्—डर; ये—जो; एतत्—इस जीवन धारणा को; समुपासीरन्—उपासना करते हुए; ते—वे; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त रहते हैं; शुचा—शोक में; अर्पिताः—सदैव लीन।

जो बद्धजीव प्रकृति के गुणों के अधीन होकर सकाम कर्मों पर निर्भर रहता है, वह मुझ भगवान् से डरता रहता है, क्योंकि मैं उसके सकाम कर्मों के फल को लागू करता हूँ। जो लोग प्रकृति के गुणों की विविधता को यथार्थ मानकर भौतिकवादी जीवन की अवधारणा स्वीकार करते हैं, वे भौतिक-भोग में अपने को लगाते हैं, फलस्वरूप वे सदैव शोक तथा दुख में डूबे रहते हैं।

**तात्पर्य :** जीव मोह या माया के पाश में बँधा है। वह, यद्यपि यह समझ सकता है कि वह परम शक्ति के आश्रित है, वह परमेश्वर की सेवा नहीं करना चाहता। इस तरह वह जीवन से ही भयभीत हो उठता है। भौतिक इन्द्रियतृप्ति की इच्छा करते हुए जीव कंसासुर की तरह सदैव अपनी भौतिक व्यवस्था के नष्ट होने से डरता है। इस तरह भौतिक प्रकृति के स्वाद-गंध में लिप्त रहकर वह धीरे-धीरे अविवेकी जीवन के भीतर घँस जाता है।

माया की दो शक्तियाँ हैं—पहली जीव को प्रच्छन्न करती है और दूसरी उसे नारकीय जीवन में गिरा देती है। माया से प्रच्छन्न होने पर मनुष्य विवेक-शक्ति खो बैठता है और तब माया उस मूर्ख को अज्ञान के अंधकार में डाल देती है। जब मनुष्य झूठे ही अपने को भगवान् कृष्ण से स्वतंत्र मान बैठता है, तो वह भौतिक इन्द्रियतृप्ति की भोगेच्छा से नाशवान् भौतिक वस्तुओं का उपासक बन जाता है और ज्यों ज्यों वह बड़ा होता जाता है, त्यों त्यों उसका जीवन भय और चिन्ता से भर जाता है। बद्धजीव अपने जीवन को अपने वश में मानता है, किन्तु उसके पास कोई नियामक शक्ति न होने से उसकी दशा इसके विपरीत हो जाती है और यह तनिक भी अच्छी नहीं लगती। ज्यों ज्यों काल द्वारा उसकी सारी

सम्पत्ति छीन ली जाती है, वह शोकाकुल हो उठता है। कुल मिलाकर भौतिक जीवन सचमुच गर्हित है। केवल गहन मोह के कारण हम इसे सन्तोषजनक मान लेते हैं।

काल आत्मागमो लोकः स्वभावो धर्म एव च ।  
इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति ॥ ३४ ॥

#### शब्दार्थ

कालः—काल, समय; आत्मा—आत्मा; आगमः—वैदिक ज्ञान; लोकः—ब्रह्माण्ड; स्वभावः—विभिन्न जीवों की विभिन्न प्रकृतियाँ; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; एव—निश्चय ही; च—भी; इति—इस प्रकार; माम्—मुझको; बहुधा—कई प्रकार से; प्राहुः—पुकारते हैं; गुण—प्रकृति के गुणों के; व्यतिकरे—क्षोभ; सति—जब होता है।

जब प्रकृति के गुणों में उद्वेलन तथा अन्योन्य क्रिया होती है, तो जीव मेरा वर्णन सर्वशक्तिमान काल, आत्मा, वैदिक ज्ञान, ब्रह्माण्ड, स्वयं अपना स्वभाव, धार्मिक उत्सव आदि अनेक प्रकारों से करते हैं।

तात्पर्य : मनुष्य को भगवान् की शक्ति का अनुभव यह देखकर हो सकता है कि किस तरह विभिन्न योनियाँ—देवता, मनुष्य, पशु, मछली, पक्षी, कीट, पौधे इत्यादि—अपने स्वभाव तथा कार्यकलाप विकसित करती हैं। प्रत्येक योनि इन्द्रियतृप्ति की विशिष्ट प्रक्रिया को पूरा करती है और यह कार्य उस योनि का धर्म कहलाता है। भगवान् का ज्ञान न होने से, सामान्य लोग उपर्युक्त अभिव्यक्तियों में भगवान् की शक्ति का दर्शन करते हैं। श्रील मध्वाचार्य ने *तन्त्र भागवत* से निम्नलिखित जानकारी उद्धृत की है—भगवान् काल कहलाते हैं, क्योंकि वे समस्त भौतिक गुणों के चलाने वाले तथा नियंत्रक हैं। पूर्ण होने से वे आत्मा कहलाते हैं। वे समस्त ज्ञान के साक्षात् रूप हैं। स्वभाव शब्द सूचित करता है कि भगवान् अपने भाग्य पर पूरा नियंत्रण रखते हैं। हर वस्तु के धारण करने वाला होने के कारण वे धर्म कहलाते हैं। मुक्त पद पर होने वाला व्यक्ति भगवान् की पूजा करके असीम आनन्द प्राप्त कर सकता है, किन्तु जो भगवान् से अनजान है, वह अन्य वस्तुओं की कल्पना करके उनका अर्थ ढूँढ़ने का प्रयास करता है। यदि कोई दृढ़तापूर्वक यह कल्पना करता है कि कोई भी वस्तु भगवान् से स्वतंत्र है, तो वह भगवान् की माया के जाल में फँसा रहेगा। भौतिक वस्तुओं के विनाश को अवश्यम्भावी देखते हुए, मनुष्य अज्ञान के अंधकार में निरन्तर शोकमग्न रहता है। ऐसे अंधकार में सुख का प्रश्न भी नहीं उठता, इसलिए किसी को यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि कोई वस्तु भगवान् से स्वतंत्र है। ज्योंही किसी ने किसी वस्तु को ईश्वर से स्वतंत्र माना कि वह भगवान् के मोहजाल में



जकड़ा जाता है, जिसे *माया* कहते हैं। मनुष्य को मुक्त हो जाने पर भी विनीत एवं भगवान् का आज्ञाकारी बने रहना चाहिए। इस तरह उसे परम आध्यात्मिक सुख प्राप्त होगा।

श्रीउद्धव उवाच

गुणेषु वर्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृतः ।

गुणैर्न बध्यते देही बध्यते वा कथं विभो ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; गुणेषु—प्रकृति के गुणों में; वर्तमानः—स्थित होकर; अपि—यद्यपि; देह—भौतिक शरीर से; जेषु—उत्पन्न; अनपावृतः—अप्रच्छन्न होकर; गुणैः—गुणों से; न—नहीं; बध्यते—बाँधा जाता है; देही—भौतिक शरीर के भीतर जीव; बध्यते—बाँधा जाता है; वा—अथवा; कथम्—यह कैसे होता है; विभो—हे प्रभु।

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, भौतिक शरीर के भीतर स्थित जीव प्रकृति के गुणों तथा इन गुणों से उत्पन्न कर्मों के द्वारा उपजे सुख तथा दुख से घिरा रहता है। यह कैसे सम्भव है कि वह इस भौतिक पाश से बाँधा न हो? यह भी कहा जा सकता है कि जीव तो अन्ततः दिव्य है और उसे इस भौतिक जगत से कुछ भी लेना-देना नहीं है। तो फिर वह भौतिक प्रकृति द्वारा कभी बद्ध कैसे हो सकता है?

तात्पर्य : शरीर प्रकृति के गुणों के वशीभूत होकर सकाम कर्म करता है, जिनसे भौतिक सुख-दुख उत्पन्न होते हैं। इस शृंखला को देह-जेषु शब्द से सूचित किया गया है। भगवान् ने उद्धव को दिखलाया है कि जीवन का वास्तविक लक्ष्य इन्द्रियतृप्ति न होकर, मोक्ष है। यद्यपि भगवान् ने यह इंगित किया है कि ज्ञान तथा वैराग्यपूर्वक की गई भक्ति से जीव मुक्त हो जाता है, किन्तु उद्धव को पूर्णता प्राप्त करने के विशिष्ट साधन समझ में नहीं आए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार उद्धव के प्रश्न का अर्थ यह है कि हम मुक्तात्माओं के कार्यों में भी ऐसे बाह्य कर्म यथा खाना, सोना, चलना-फिरना, सुनना, बोलना इत्यादि पाते हैं, जो स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के कार्य हैं। अतः यदि मुक्त आत्माएँ भी स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के भीतर स्थित हैं, तो वे प्रकृति के गुणों से किस तरह बद्ध नहीं हो सकती है? यदि यह तर्क किया जाय कि जीव आकाशतुल्य है, जो किसी वस्तु से न मिलने के कारण बद्ध नहीं है, तब यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि फिर दिव्य जीव किस तरह भौतिक प्रकृति द्वारा बद्ध हो सकता है? दूसरे शब्दों में, यह जगत कैसे सम्भव है? कृष्णभावनामृत के मार्ग को सुस्पष्ट करने के लिए उद्धव ने परम आध्यात्मिक अधिकारी भगवान् कृष्ण के समक्ष यह प्रश्न रखा।

माया के साम्राज्य में भगवान् के विषय में असंख्य कल्पनाएँ हैं, जिन्हें निराकार, सगुण, निर्गुण, हिजड़े की भाँति नपुंसक वस्तु आदि कहा गया है। किन्तु ऐसी सांसारिक कल्पनाओं से भगवान् के स्वभाव को नहीं समझा जा सकता। इसलिए उद्धव मुक्ति-मार्ग को स्पष्ट करना चाहते हैं, जिससे लोग वास्तव में समझ सकें कि कृष्ण ही भगवान् हैं। किन्तु जब तक मनुष्य प्रकृति के गुणों के द्वारा प्रभावित रहता है तब तक पूर्ण ज्ञान हो पाना सम्भव नहीं है। अब भगवान् कृष्ण उद्धव को भगवद्धाम वापस जाने के लिए आध्यात्मिक मुक्ति के विषय में विस्तार से बतलायेंगे।

कथं वर्तेत विहरेत्कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः ।

किं भुञ्जीतोत विसृजेच्छयीतासीत याति वा ॥ ३६ ॥

एतदच्युत मे ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।

नित्यबद्धो नित्यमुक्त एक एवेति मे भ्रमः ॥ ३७ ॥

#### शब्दार्थ

कथम्—किस तरह; वर्तेत—स्थित है; विहरेत्—विहार करता है; कैः—किससे; वा—अथवा; ज्ञायेत—जाना जायेगा; लक्षणैः—लक्षणों से; किम्—क्या; भुञ्जीत—खायेगा; उत—तथा; विसृजेत्—मल त्याग करता है; शयीत—लेटेगा; आसीत—बैठेगा; याति—जाता है; वा—अथवा; एतत्—यह; अच्युत—हे अच्युत; मे—मुझको; ब्रूहि—बतलायें; प्रश्नम्—प्रश्न; प्रश्न-विदाम्—जो प्रश्नों का उत्तर देने में पटु हैं उनके; वर—हे श्रेष्ठ; नित्य-बद्धः—नित्य बद्ध; नित्य-मुक्तः—नित्य मुक्त; एकः—अकेला; एव—निश्चय ही; इति—इस प्रकार; मे—मेरा; भ्रमः—सन्देह।

हे अच्युत भगवान्, एक ही जीव कभी तो नित्य बद्ध कहा जाता है, तो कभी नित्य मुक्त। इसलिए जीव की वास्तविक स्थिति मेरी समझ में नहीं आ रही। हे प्रभु, आप दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर देने वालों में सर्वोपरि हैं। कृपा करके मुझे वे लक्षण समझाएँ, जिनसे यह बतलाया जा सके कि नित्य बद्ध तथा नित्य मुक्त जीव में क्या अन्तर है। वे किन विधियों से स्थित रहते हैं, जीवन का भोग करते हैं, खाते हैं, मल त्याग करते हैं, लेटते हैं, बैठते हैं या इधर-उधर जाते हैं?

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने उद्धव को यह बतलाया कि नित्य मुक्तात्मा प्रकृति के तीन गुणों से परे है। चूँकि मुक्तात्मा को सतोगुण से भी परे माना जाता है, तो फिर उसे पहचाना कैसे जाय? प्रकृति के गुणों से जो मनुष्य का भौतिक शरीर उत्पन्न करते हैं, झूठी पहचान करने पर मनुष्य माया से बद्ध हो जाता है। दूसरी ओर गुणों को पार कर जाने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है। किन्तु खाने, मल-विसर्जन करने, आराम करने, बैठने, सोने जैसे सामान्य कार्यों में मुक्तात्मा तथा बद्ध आत्मा एक जैसे लगते हैं। इसीलिए उद्धव प्रश्न कर रहे हैं, “मैं किन लक्षणों से यह पहचान सकता हूँ कि कोई

जीव बिना अहंकार के ऐसे बाह्य कर्म कर रहा है और किन लक्षणों से यह पहचान सकता हूँ कि कोई माया के बन्धन में रहकर कार्य कर रहा है? यह कठिन है, क्योंकि मुक्तात्मा तथा बद्धात्मा के सामान्य शारीरिक कार्य एक-जैसे लगते हैं।” कृष्ण को अपना निजी आध्यात्मिक गुरु मानकर उद्धव उनके पास गये हैं और यह जानना चाहते हैं कि भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के अन्तर को कैसे समझा जाय।

चूँकि जीव को कभी कभी नित्य बद्ध कहा जाता है, तो फिर उसे नित्य मुक्त अथवा नित्य मुक्त को नित्य बद्ध कैसे कहा जा सकता है? यह विरोधाभास है, जिसे भगवान् स्पष्ट करेंगे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत “सकाम कर्म की प्रकृति” नामक दसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा विरचित तात्पर्य पूर्ण हुए।